सत्पथ-दर्पण

प्रकाशक

म. महावीर आचरण संस्था समिति, भोपाल

गुरु आशीष

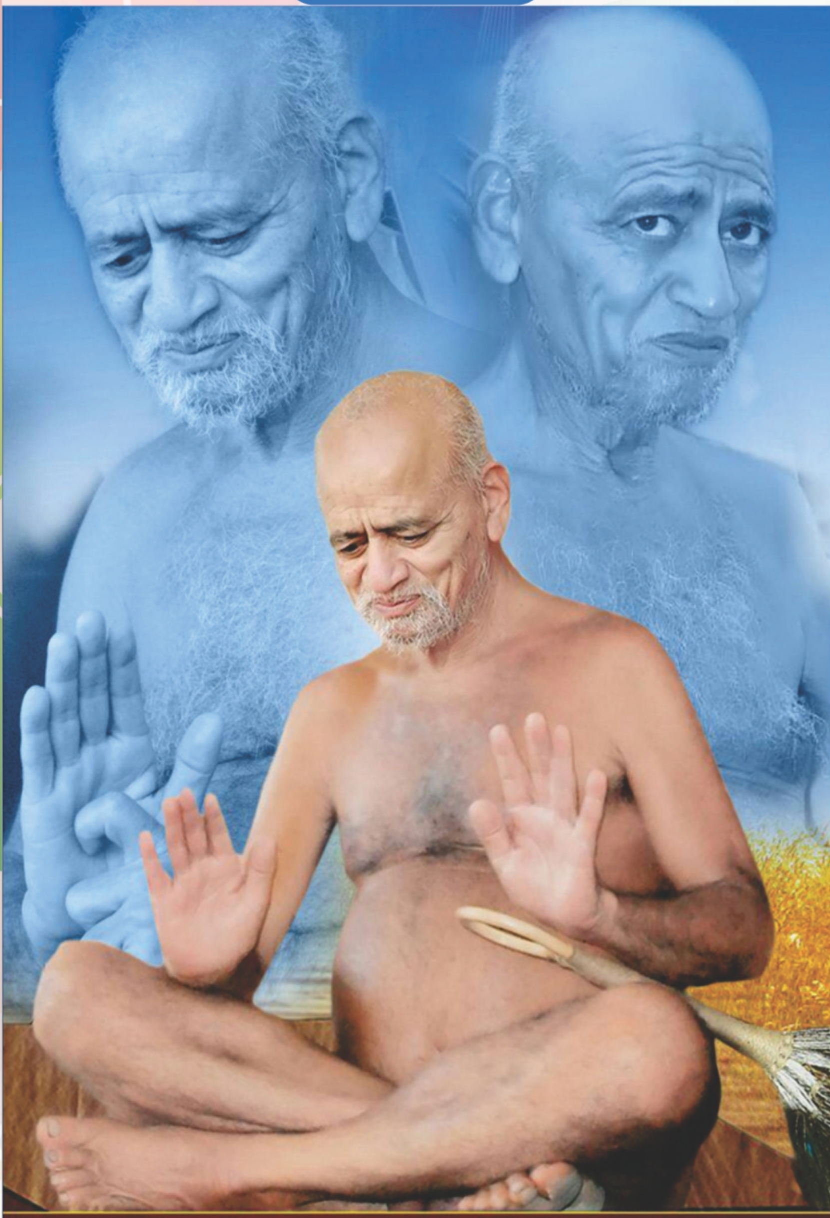

श्रीमद् आचार्य देव श्री १०८ विद्यासागर जी यतिराज

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।

सत्पथ - दर्पण

प्रकाशक
भ. महावीर आचरण संस्था समिति, भोपाल

कृति – **सत्पथ-दर्पण**
कृतिकार – पं. अजित कुमार शास्त्री
शुभाशीष – आचार्यश्री आर्जवसागरजी महाराज
संपादन – डॉ. अजित जैन, भोपाल
संकलन – भगवान महावीर आचरण संस्था समिति, भोपाल

अर्थ सहयोगी – ......

संस्करण – प्रथम, 2020

प्रतियाँ – 1000

मूल्य – स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ाएँ

प्राप्ति स्थान – भगवान महावीर आचरण संस्था समिति
एम.आई.जी. 8/4, गीतांजली काम्पलैक्स,
कोटरा सुलतानाबाद, भोपाल (म.प्र.)-462 003
मो. : 7222963457, 9425601832,
7049004653, 9425601161, 9425011357

मुद्रक – पारस प्रिंटर्स, भोपाल
काम्प. 207, शॉप-जी-10, सांईबाबा काम्पलेक्स,
जोन-1, एम.पी.नगर, भोपाल
फोन : 0755-4260034, 9826240876

सत्पथ-दर्पण-एक झलक

(प्रस्तावना)

संत शिरोमणि आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज से दीक्षित परम पूज्य गुरुवरश्री आर्जवसागरजी महाराज का प्रथम आगमन एवं चातुर्मास 2004 में म.प्र. की राजधानी भोपाल में हुआ। साथ ही अतुल प्रभावना के साथ दो पंचकल्याणक भी सम्पन्न हुए। देश के 13 प्रमुख राज्यों में अनेक भाषा ज्ञान के साथ प्रवचनों एवं पंचकल्याणकों आदि कार्यक्रमों के माध्यम से धर्म की प्रभावना करते हुए आचार्य महाराज का विहार हुआ और हो रहा है।

आचार्यश्री आर्जवसागरजी महाराज के आशीर्वाद एवं प्रेरणा से भगवान महावीर आचरण संस्था समिति का गठन एवं **''भाव विज्ञान''** पत्रिका (त्रैमासिक) का प्रकाशन सन् 2007 से किया जा रहा है। सन् 2013 में इंदौर चातुर्मास के दौरान, जैन गजट के पूर्व सम्पादक एवं श्री भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद के पूर्व मंत्री स्व. श्री अजित कुमार शास्त्री, देहली द्वारा रचित कृति ''सत्पथ दर्पण'' का आवलोढ़न गुरुवर आर्जवसागरजी महाराज द्वारा किया गया। इस कृति में उल्लेखित एकान्तवाद, मिथ्यात्व, रुढ़िवाद एवं शिथिलाचार का खण्डन अनेकान्त, स्याद्वाद और सापेक्षवाद शैली में जैनागम के प्रमाणों अनुसार प्रस्तुत किया गया है। गुरुवर आर्जवसागरजी की प्रेरणा से इस कृति को **''भाव विज्ञान''** पत्रिका के माध्यम से साधर्मी बन्धुओं के स्वाध्याय निमित्त पुन: प्रस्तुत करने का भाव हुआ था जो सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

हमारी संस्था ने भाव-विज्ञान पत्रिका के साथ-साथ व इसके पूर्व से भी अनेक पुस्तकों को प्रकाशित किया है जो इस तरह हैं:-

1. जैनागम-संस्कार, 2. तीर्थोदय-काव्य, 3. धर्म-भावना-शतक, 4. नेक-जीवन, 4. परमार्थ-साधना, 5. बचपन का संस्कार, 6. पर्यूषण-पीयूष (आगे भारतीय ज्ञानपीठ से भी प्रकाशित), 7. जैनधर्म में कर्म व्यवस्था, 8. जिनागम-

संग्रह, 9. सम्यक्-ध्यान-शतक, 10. आर्जव-वाणी, 11. साहित्य-समीक्षा, 12. आर्जव-कवितायें, 13. जैन-शासन का हृदय, 14. तत्त्वसार एवं प्रश्नोत्तर-मालिका, 15. आध्यात्मिक संत-आर्जवसागर, 16. लोक कल्याण विधान (षोडस कारण विधान), 17. संगोष्ठी त्रय स्मारिका और 18. विश्वधर्म की रूपरेखा।

''सत्पथ दर्पण'' के लेखक पं. श्री अजितकुमार शास्त्री ने कृति में निवेदन किया है कि जनता आगम विधान को विधिवत् समझ ले और जीवन में श्रद्धान एवं विचार के आधार पर आचरण करे। आत्मा का विकास एवं बलवानपना चारित्र के बगैर नहीं होता है। यह आश्चर्यजनक एवं दु:खद बात है कि कहानपंथी साहित्य के ग्रन्थों में जनता का चारित्र भ्रष्ट और अनुत्साहित करने के लिए अणुव्रत, महाव्रत, तप, त्याग संयम अर्थात् चारित्र को, जो कि आत्मा का कर्म मल दूर करने वाला है, आत्मा का विकार बताया जाता है। **इस तरह के उपदेश सर्वथा गलत हैं कि ''आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है क्योंकि आत्मा चेतन अमूर्तिक पदार्थ है, शरीर जड़ मूर्तिक है। आत्मा की क्रिया आत्मा में है, जड़ शरीर की क्रिया शरीर में है। शरीर की क्रिया आत्मा में कुछ विकार नहीं कर सकती। आत्मा ना कुछ खाता है, ना कुछ पीता है, ना कोई शारीरिक क्रिया करता है। खाना-पीना या व्रत उपवास आदि जड़ क्रिया है। पर-पदार्थ कुछ विकार या उपकार नहीं कर सकता है। ''दया अहिंसा, धर्म नहीं है''।** सोनगढ़ से प्रकाशित या कहानपंथ के साहित्य में प्रचुरता से किए गए ऐसे अनेक गलत कथन/ उपदेशों का खण्डन जैनागम के प्रमाण सहित ''सत्पथ दर्पण'' में किया गया है।

गुरुवर परम पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागरजी महाराज द्वारा ''सत्पथ दर्पण'' कृति में उल्लेखित सोनगढ़ को ''कहान पंथ'' तथा कहानजी स्वामी को ''कहानभाई'' रूप परिमार्जन करने की महत्वपूर्ण प्रेरणा दी गयी है। आचार्य महाराज द्वारा उनकी उत्कृष्ट दैनिक व्यस्ततम चर्या में से बहुमूल्य समय निकालकर साधर्मी बन्धुओं के जीवन को श्रद्धानमय और सदाचरण

बनाने का जो प्रशंसनीय उपक्रम किया गया है उसके लिए हम आभारी हैं उनके मार्गदर्शन व पुरुषार्थ के लिए आचार्य महाराज को अंतरंग से त्रिकाल नमोस्तु। हम सभी एकान्त मिथ्यात्व से बचकर अनेकान्त के मर्म को समझने हेतु इस कृति का स्वाध्याय अवश्य करें और अपने आपको धन्य करें।

''सत्पथ दर्पण'' कृति का पुनः प्रकाशन............................ संस्था द्वारा .... के सौजन्य से किया जा रहा है जिन्हें हम सभी धन्यवाद का पात्र मानते हैं।

इत्यलं!

डॉ. अजितकुमार जैन
संपादक-भाव विज्ञान (त्रैमासिक) पत्रिका, भोपाल
मो. 7222963457, 9425601161 (व्हाट्सएप)

आद्य-निवेदन

पं. अजित कुमार शास्त्री

इस पुस्तक का श्रम न तो किसी दुराग्रह-पोषण के लिए हुआ है और न जन-साधारण को सन्मार्ग से विचलित करने के लिए किया गया है। लक्ष्य केवल एक रहा है कि जनता आगम-विधान को समझ ले और जीवन में श्रद्धान और विचार के आधार पर आचार भी अपनाये। बिना आचार के श्रद्धा और ज्ञान टेसू के सुगन्धी-हीन सुन्दर पुष्प के समान हैं। आत्मा का विकास चारित्र के बिना नहीं होता, न आत्मा चारित्र के बिना कभी बलवान होता है। हमारे प्रातः स्मरणीय तीर्थंकर तथा ऋषि, महर्षि महान तप, त्याग, संयम के बल पर ही साधारण आत्मा से महात्मा बने और महात्मा से जगत्पूज्य परमात्मा बने। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा अवधिज्ञानी तीर्थंकर यदि सच्चारित्र का आचरण न करते, तो आज उनका कोई भी व्यक्ति नाम भी न लेता और न वे रंचमात्र अपना अभ्युदय कर पाते।

तीर्थंकर प्रकृति के उदय से वीतराग तीर्थंकर को अपनी केवलज्ञानी अवस्था में मौन-भंग करके अपनी मधुर वाणी द्वारा उपदेश इसी कारण देना पड़ता है कि जिस तपस्या से उन्होंने परमात्मपद प्राप्त किया है, उस तपोमार्ग का सुखद रहस्य जनता भी समझ ले और वह उसका आचरण करे। बिना चारित्र के मनुष्य और पशु में कुछ अन्तर नहीं रहता।

तो आश्चर्य और दुख होता है जब कि कहानपंथ साहित्य के ग्रन्थों में जनता को चारित्र पथ से भ्रष्ट एवं अनुत्साहित करने के लिए अणु व्रत, महाव्रत, तप, त्याग, संयम अर्थात् चारित्र को, जो कि आत्मा का मल दूर करने वाला है, आत्मा का विकार बताया जाता है। क्या हमारे

श्री 1008 भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों ने तथा श्री कुन्द-कुन्द आदि ऋषियों ने एवं अगणित सद्गृहस्थों ने अणुव्रतों, महाव्रतों का आचरण करके अपने आत्मा में विकार पैदा किया था?

दया, अहिंसा, दान, पूजन आदि आचरण को हमारे श्रद्धेय ऋषियों ने ''आचरणीय धर्म'' बतलाया है उनके -

'धम्मो दयाविसुद्धो, करुणाए जीवसहावस्स, हिंसारहिये धम्मे, दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे, झाणज्झयण मुक्खं जइधम्मे, परस्परोपग्रहो जीवानां'।

आदि सच्चारित्र-पोषक वाक्यों पर परदा डालकर जब सोनगढ़ साहित्य 'दया और अहिंसा को त्याज्य' (छोड़ने योग्य) कहकर आर्ष वाक्यों की अवहेलना करता है। 'जियो और जीने दो' वाक्य को 'अज्ञानियों की बात' कहता है, तब जैन धर्म का अपमान देखकर दुःख होता है। क्या जिनेन्द्र भगवान का, जिनवाणी का तथा आचार्य कुन्द-कुन्द आचार्य का श्रद्धालु जन अपने मुख से ऐसी अश्रद्धा की बातें कह सकता है?

पथ-प्रदर्शन

जनता प्रायः विवेक-शून्य होती है, अतः उसको प्रभावशाली नेता जिधर झुकाना चाहे, झुका सकता है। भारतवर्ष में विश्वहितैषी धर्म-प्रवर्तकों ने प्राणी-मात्र को अभयदान देने वाले अहिंसामय धर्म का प्रचार किया, तो जनता ने उसे हृदय से अपनाया। माँस-लोलुपी स्वार्थी नेताओं ने पशुयज्ञ का प्रचार किया तो साधारण जनसमुदाय उस हिंसा मार्ग को धर्म मानकर वैसे पशुयज्ञ करने लगा। विषय लोलुपी वाममार्गी नेता ने यदि पांच मकार (मैथुन, मांस, मद्य, मीन और मुद्रा) के सेवन को मुक्ति का मार्ग बतला कर भैरवी-चक्र के समय अपनी माता, बहिन, पुत्री आदि

जिस किसी भी स्त्री की चोली हाथ में आ जाने पर उसके साथ कामक्रीड़ा करने का प्रचार किया तो उस मार्ग के अनुयायी भी हजारों लाखों स्त्री पुरुष बन गये। सन् 1914 के जर्मन प्रथम महायुद्ध से पहले जार के शासनकाल में रासपुटिन नामक प्रभावशाली धूर्त ने रूस में व्यभिचार को परमेश्वर से मिलने का साधन बतलाया तो रूस के हजारों व्यक्ति उस मार्ग पर चल पड़े।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा धर्म का प्रचार करने वाले मगध देश के समकालीन दो क्षत्रिय राजकुमार तपस्वी बनकर कार्यक्षेत्र में उतरे। एक थे अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और दूसरे थे महात्मा बुद्ध। भगवान महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की साधुचर्या को अपनाया। नग्न दिगम्बर वेष में उन्होंने मौनभाव से बारह वर्ष तक तपस्या की। वे अपने प्रण के अनुसार भोजन-विधि मिलने पर भोजन किया करते थे, किसी का निमंत्रण स्वीकार करके भोजन करने के लिए किसी के घर न जाते थे। अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने का उन्हें लोभ न था इस कारण उन्होंने अपने किसी भी भक्त को मांस-भक्षण करने आदि की किसी तरह की छूट नहीं दी।

इसका परिणाम यह हुआ कि ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी आज उनका कोई भी अनुयायी गृहस्थ या साधु मांस-भक्षी नहीं बन सका।

उधर महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में जैन साधु का नग्न दिगम्बर वेश अपनाया, केशलोंच करना, अपने हाथों में भोजन लेना आदि जैन साधु का आचरण किया। कुछ दिन पीछे जब वह चर्या उन्हें कठिन प्रतीत हुई तो उन्होंने जैन साधु के उस नग्न को छोड़ दिया और लाल कपड़े पहनकर मध्यम मार्ग अपनाया। तब उनको जो व्यक्ति भोजन के लिये निमन्त्रण

देता था उसके घर जाकर भोजन कर आते थे।

इसके सिवाय कुछ मांस-भक्षण के अभ्यासी मनुष्यों ने शिष्य बनने के लिए महात्मा बुद्ध से अनुरोध किया तो महात्मा बुद्ध ने त्रिकोटि-शुद्ध मांस को भक्ष्य (खाने योग्य) कह दिया। यानी 1. किसी जीव को स्वयं मारकर उसका मांस न खाओ, 2. किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी जीव को मरवा कर मांस न लो। 3. अपने खाने के लिए किसी से मांस न मांगो। इन तीनों तरह के सिवाय यदि मांस प्राप्त हो जावे तो उसे खाया जा सकता है।

मांस-भक्षण की इतनी सुविधा देने से यद्यपि महात्मा बुद्ध के अनुयायी शिष्य तो बहुत से बन गये परंतु बौद्धधर्म में अहिंसा का शुद्ध आचरण न रहा, मांस-भक्षण का प्रचार बौद्ध गृहस्थों में ही नहीं अपितु बौद्ध साधुओं में भी हो गया जिससे आज बौद्ध धर्मावलम्बी कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो मांस न खाता हो। बौद्ध धर्माचार्य जिस ढंग से अपने लिये मांस उपलब्ध करते हैं, वह त्रिकोटि शुद्धि की एक घृणित विडम्बना है, उसे लिखना उचित न समझकर यहां नहीं लिखते।

इस तरह साधारण चारित्र में थोड़ी-सी भी छूट देने का बहुत भारी अनुचित दूरगामी परिणाम होता है। श्री कहान जी आदि भाइयों को इस विषय पर गहराई के साथ विचारकर ध्यान देना चाहिए।

आज का मनुष्य विषय भोगों का कीड़ा बना हुआ है। वह यथेच्छ व्यभिचार, अण्डा, मांस खाने को, मदिरापान करने को अपने लिये अच्छा रुचिकर समझता है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य व्रत आदि उसे अरुचिकर प्रतीत होते हैं। यदि उसको अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कोई धार्मिक आचरण मिल जावे तो उससे उसके धर्म और कर्म दोनों सध जाते हैं।

''आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है क्योंकि आत्मा चेतन अमूर्तिक पदार्थ है, शरीर जड़ मूर्तिक है। आत्मा की क्रिया आत्मा में है, जड़ शरीर की क्रिया शरीर में है। शरीर की क्रिया आत्मा में कुछ विकार नहीं कर सकती। आत्मा न कुछ खाता है, न कुछ पीता है, न कोई शारीरिक क्रिया करता है। खाना, पीना, या व्रत उपवास आदि जड़क्रिया है। पर-पदार्थ कुछ विकार या उपकार नहीं कर सकता।''

इस तरह का उपदेश (जो कि मूलतः गलत है क्योंकि खाना, पीना, विषयभोग आदि आत्मा और शरीर की सम्मिलित क्रिया है।) महापापी, अण्डा-भक्षी, पराङ्गना एवं वाराङ्गना-प्रिय तथा व्रत संयम से अरुचि रखने वाले व्यक्तियों को बहुत प्रिय लगता है। क्योंकि ऐसे उपदेश के द्वारा उनकी आध्यात्मिकता और शरीरिक-तुष्टि-कांक्षा, ये दोनों बातें सिद्ध हो जाती है। इस तरह से अध्यात्मिक-प्रेमियों की जनसंख्या अच्छी बढ़ सकती है, परन्तु भविष्य में और वर्तमान में भी इसका दुष्परिणाम जनता को कुपथगामी बना सकता है।

अतः श्री कहान भाई के अनुयायी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की रुचि तो जनता में उत्पन्न करें किन्तु इसके साथ ही हिंसा, व्यभिचार आदि से बचने के लिए अपने अनुयायियों को अहिंसा आदि व्रत पालन करने का तथा मांस मदिरा अण्डा, पराङ्गना, वारांगना-सेवन के त्याग करने का भी कड़ाई के साथ उपदेश अवश्य दें। एक दिगम्बरेतर आम्नाय अनुसार, ऐसे उपदेश देने का परित्याग करें कि 'दया, अहिंसा धर्म नहीं है।' जबकि आज श्वे. तेरापन्थी आचार्य तुलसीजी इस युग की आवश्यकता का अनुभव करके अहिंसा आदिक अणुव्रतों का समस्त जनता में प्रचार कर रहे हैं।

श्री कहान भाई स्वयं एक संस्था रूप हैं, अतः उनकी त्रुटियों का

सुधार एक संस्था का सुधार है। अतः उनके हित की दृष्टि से यह सब कुछ लिखा गया है। यदि इस पुस्तक में कहीं पर कोई कटु शब्द लिखा हुआ प्रतीत हो तो उसे छोड़कर मेरी आन्तरिक सद्भावना का ध्यान रखा जावे, ऐसा निवेदन है।

पुस्तक छप जाने पर कुछ विषयों पर और भी कुछ महत्वपूर्ण आगम-प्रमाण प्राप्त हुए, उन्हें फिर कभी प्रकाश में लाया जावेगा प्रसंग-वश अनेक बातों की पुनरुक्ति हुई है।

वैशाख वदी 10 रविवार
वीर सं. 2992 — विनम्र
विक्रम सं. 2023 — अजितकुमार शास्त्री
दिनांक 10 अप्रैल 1966 — (चावली-आगरा, मुलतान)

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
1.	श्री कहानजी भाई	2
2.	निश्चयनय, व्यवहारनय	4
3.	शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य-पर्याय	7
4.	कहानपंथ का गलत सिद्धान्त	8
5.	मोक्षमार्ग	9
6.	पहली वार्ता : हिंसा-अहिंसा	15
7.	शास्त्राधार	20
8.	दूसरी वार्ता : दया	22
9.	गलत आधार	25
10.	तीसरी वार्ता : शुभ-भाव	28
11.	चौथी वार्ता : छहढाला के अर्थ का अनर्थ	36
12.	मोक्षमार्ग	41
13.	क्या श्रावक व्रत, मुनिव्रत चारित्र नहीं है?	43
14.	क्या तप से निर्जरा नहीं होती?	44
15.	आधार	46
16.	पाँचवीं वार्ता : क्या पुण्य विष्ठा समान है?	49
17.	पुण्य सामग्री : सम्यक्त्व	50
18.	पापरूप द्रव्यकर्म	52
19.	पुण्य द्रव्यकर्म	52
20.	पाप-पुण्य भाव कर्म	53
21.	उपसंहार	56
22.	पुण्य का उदय न हो तो	57
23.	पुण्याचरण न हो तो	58

24.	छठी वार्ता : शुभ भाव धर्म है या नहीं	62
25.	सातवीं वार्ता : जिनवाणी एवं परस्त्री	66
26.	आठवीं वार्ता : हिंसा करते हुए पुण्य या पाप	71
27.	भ्रम का कारण	73
28.	नौवीं वार्ता : मुनि का लक्षण	76
29.	द्रव्यलिंग भावलिंग	77
30.	जड़-क्रिया	78
31.	श्री कुन्दकुन्दाचार्य का मत	81
32.	अपराधी भी निरपराध	81
33.	निमित्त-कर्ता	83
34.	दशवीं वार्ता : तीर्थंकर की वाणी	85
35.	तीर्थंकर प्रकृति	87
36.	इसके लिये भी आधार	90
37.	ग्यारहवीं वार्ता : तीर्थक्षेत्र	93
38.	बारहवीं वार्ता : जिओ और जीने दो	97
39.	ज्ञाता द्रष्टा	100
40.	आधार	102
41.	तेरहवीं वार्ता : मन वचन काय की क्रिया	104
42.	आधार	109
43.	चौदहवीं वार्ता : आत्मा में विकार का कारण	109
44.	सोलहवीं वार्ता : रत्नत्रय	118
45.	कहानपंथ साहित्य	122
46.	आधार	123
47.	इक्कसीवीं वार्ता : महाव्रतों से संवर	127
48.	धर्माचरण का फल	128
49.	व्रती के संवर	130

50.	निर्जरा	131
51.	निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व	133
52.	बन्ध का कारण	135
53.	परिशिष्ट : नियतिवाद	136
54.	विज्ञान के अविष्कार	141
55.	कृत्रिम गर्भाधान	142
56.	भौगोलिक क्रम-भंग	143
57.	एक अभिमत	144
58.	निमित्त कारण	151
59.	व्यवहार चारित्र	154
60.	व्यवहारनय	155
61.	केवलज्ञान	156
62.	अन्तिम निवेदन : ज्ञान का संचय	158
63.	अनुचित प्रणाली	162
64.	चित्र की पूजा	163
65.	तीर्थंकर का अवतार	164
66.	विद्वानों का कर्त्तव्य	165
67.	सद्गुरु	166
68.	काल लब्धि	167
69.	मुनि का द्रव्यलिंग भावलिंग	168
70.	गुरु विनय	170
71.	सुधारणीय त्रुटि	170

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।

सत्पथ - दर्पण

पं. अजित कुमार शास्त्री

परमागमस्य बीजं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

जो परम-आगम का बीज (आधारशिला) है, जन्मान्ध पुरुषों द्वारा हाथी के विभिन्न अङ्गों को छूकर उतने अंग को ही हाथी समझ लेने के समान, वस्तु के आंशिक ज्ञान को वस्तु के सर्वांश की कल्पना करने वाले एकान्तवादियों का निराकरण करने वाला है तथा समस्त निश्चय व्यवहार आदि नयों के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है, उस अनेकान्त सिद्धान्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

वीर सं. 2461 वैशाख सुदी 9 से 13 तक, मई 1965 में शान्तिवीर नगर (श्री महावीरजी राजस्थान) अतिशय तीर्थक्षेत्र पर श्रीमान सिद्धान्त वारिधि सिद्धान्त भूषण वा. रत्नचन्द्रजी जैन मुख्तार सहारनपुर की अध्यक्षता में श्री भा. दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद का अधिवेशन हुआ था। उस अधिवेशन में 12 प्रस्ताव पारित हुए थे। जिनमें से 10 वाँ प्रस्ताव **''सोनगढ़ (कहानपंथ) से प्रकाशित साहित्य दिगम्बर जैन आगम के विरुद्ध है''** इस विषय पर श्रीमान विद्वान् ब्रह्मचारी उलफतरायजी ने उपस्थित किया था, जिसका समर्थन श्रीमान पं. राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा ने किया था। यह प्रस्ताव 15 हजार संख्यक उपस्थित जनता के समक्ष सर्वसम्मति के पास हुआ था। इसमें सोनगढ़ (कहानपंथ) के साहित्य की 21 बातों का उल्लेख है।

इस प्रस्ताव के उत्तर में सोनगढ़ से प्रकाशित पत्र आत्मधर्म के 2 जनवरी 1966 के अंङ्क में 'सोनगढ़ साहित्य आगमानुकूल है' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, इस लेख पर लेखक का नाम नहीं दिया गया है। इससे यह लेख सम्पादक महोदय का लिखा हुआ प्रतीत होता है। परन्तु इस लेख को इसी

शीर्षक द्वारा पृथक् ट्रेक्ट के रूप में भी प्रकाशित किया गया है और उस पर लेखक का नाम श्री पं. वंशीधर जी कलकत्ता है। आपने संस्कृत भाषा में शास्त्री परीक्षा तथा हिन्दी भाषा में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की है। संभवतः आपको गोम्मटसार आदि उच्च सैद्धांतिक ग्रन्थों तथा तार्किक ग्रंथों के अध्ययन का अवसर नहीं मिला, यह बात ट्रैक्ट ''सोनगढ़ साहित्य आगमानुकूल है'' से मिलती है। अस्तु। वह लेख तथा ट्रैक्ट आपका लिखा हुआ मान कर ही उसके उत्तर में लिखा जा रहा है।

श्री कहानजी भाई

मूल संघ के प्रतिष्ठापक, महान आध्यात्मिक आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, वारसाणुवेक्खा, रयणसार, दर्शन पाहुड़, चारित्र पाहुड़, मोक्ष पाहुड़, सूत्र पाहुड़, बोध पाहुड़ आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से समयसार ग्रन्थ में यद्यपि यत्र-तत्र व्यवहार नय अनुसार भी कथन है, परन्तु मुख्यतः उसमें निश्चय नय के अनुसार कथन है। इस आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय करके अनेक व्यक्तियों ने श्री कुन्दकुन्द आचार्य में अपनी आस्था रखकर दिगम्बर जैन आम्नाय के आचार-विचार को अपनाया है। मुलतान में तत्त्ववेत्ता श्री चौथुराम जी सिंघी तथा सेठ भोलाराम जी बगवानी (ओसवाल) श्री दिगम्बर आम्नाय में आस्था समयसार ग्रन्थ का स्वाध्याय करने के अनन्तर हुई है।

श्री कहानजी भाई (जिनका प्रचलित सुगम नाम श्रीकान जी स्वामी है।) स्थानकवासी साधु थे, आपने भी सौभाग्य से समयसार का स्वाध्याय किया और श्री कुन्दकुन्द आचार्य के भक्त बनकर आपने भी दिगम्बर-आम्नाय में प्रवेश किया है। धर्मानुराग-वश हमारे हृदय में उनका अच्छा आदर सम्मान है।

जहाँ आपने स्थानकवासी सम्प्रदाय की विचार-धारा का परित्याग करके दिगम्बरीय विचार धारा को अपनाया, परन्तु आपने अभी तक पहली दूसरी तीसरी आदि किसी भी प्रतिमा का आचार ग्रहण नहीं किया। इसी कारण वे अपने आपको अविरती कहते हैं।

इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पहले तो आप महाव्रती साधु थे, परन्तु अब श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अनुसार दिगम्बर महाव्रती साधु बनना तो आपको संभवत: अशक्य दीखता है और पूर्ववर्ती महाव्रती से श्रावक-आचार ग्रहण करने में आपको संकोच होता है। इसी कारण आप ऐलक, क्षुल्लक या श्रावक व्रत आदि किसी भी पद का आचार ग्रहण नहीं करते।

इसके सिवाय ऐसा भी जान पड़ता है, कि आप कुछ सुखाभ्यासी बन गये हैं, अत: व्रत तप संयम आपको अपने लिये कठिन प्रतीत होता है। अस्तु, कुछ भी हो। आप अनगार और नैष्ठिक सागार आचार में से कोई भी चारित्र ग्रहण नहीं करना चाहते, तो न करें, इनमें तो आपकी ही आध्यात्मिक हानि लाभ का प्रश्न है, किन्तु आपका एक धर्म-प्रचारक के नाते यह मुख्य कर्त्तव्य है कि आप अपने अनुयायी भक्तों को कम-से-कम श्रावक व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा करते रहें, जिससे वर्तमान काल में भगवान ऋषभनाथ के समय से प्रचलित हुई और अब तक चली आई श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमयी जैन संस्कृति का उच्छेद न हो, आपकी अनुयायिनी जनता में वह व्यवहार रत्नत्रयात्मक जैन संस्कृति बनी रहे।

यदि आप ऐसा करना भी उचित नहीं समझते, तो कम से कम अपने प्रवचनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य की धर्म प्रचारिणी पद्धति को तो अवश्य अपनावें। **उन्होंने समयसार की 12वीं गाथा में निश्चय नय को पूर्ण शुद्धवीतराग हुए शुक्लध्यानी मुनिराजों के लिए उपयोगी (प्रयोजनीय) बतलाया है और उससे नीचे के गुणस्थानवर्ती मुनियों तथा गृहस्थ श्रावकों के लिए व्यवहार नय तथा चारित्र आचरणीय बतलाया है।** तदनुसार आप भी शुद्धात्मा बनने का लक्ष्य रखकर उसके साधनभूत चारित्र के ग्रहण करने का प्रचार करें।

किन्तु आप इससे उलटा प्रचार कर रहे हैं। जो चारित्र श्री कुन्दकुन्द आचार्य के कथनानुसार आत्मा के कषायों व विषयभोगों को मन्द करने के लिये उपयोगी एवं ग्राहय-आचरणीय है उसको आप 'त्याज्य' (छोड़ने योग्य) बताते हैं, इससे साधारण अनभिज्ञ जनता को चारित्र के विषय में भ्रम होता है।

यदि दया, अहिंसा आदि व्रतात्मक चारित्र आत्मा का अहितकारी एवं त्याज्य विकार होता तो क्यों तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य उसका अपने चारित्र पाहुड़ आदि ग्रन्थों में विधान करते और क्यों उसका स्वयं आजीवन आचरण करते?

निश्चय नय और व्यवहार नय

वस्तु के समस्त अंशों को जानने वाला प्रमाण होता है और वस्तु के एक अंश को जानने वाला 'नय' होता है।

नय के मूल दो भेद है 1. द्रव्यार्थिक नय, 2. पर्यायार्थिक नय। द्रव्य (सामान्य) जिसका विषय है, वह द्रव्यार्थिक नय है। पर्याय विशेष (जिसका) विषय है वह पर्यायार्थिक नय है। आध्यात्मिक भाषा में द्रव्यार्थिक नय को निश्चय नय और पर्यायार्थिक नय को व्यवहार नय कहते हैं।

जैसे आम को रस की अपेक्षा से मीठा कहते हैं किन्तु रंग (रूप) की अपेक्षा से उसे मीठा नहीं कहते, रंग की अपेक्षा से उसे पीला कहते हैं। इसी तरह द्रव्य (सामान्य) जिसका विषय है वह निश्चिय नय है और पर्याय जिसका विषय है वह व्यवहार नय है, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। आत्मा एक द्रव्य है वह सिद्ध,संसारी, मनुष्य, देव, पशु, नारक पर्याय में से किसी न किसी एक में अवश्य होता है और सिद्ध आदि कोई भी पर्याय आत्मा रूप अवश्य होती है। इस तरह द्रव्य और पर्याय अभेद रूप हैं।

यही बात पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं -

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्तं य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परूविंति ।। 12 ।।

अर्थ - पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। द्रव्य और पर्याय का परस्पर अनन्यभूत (अभेद) भाव है। ऐसा श्रमण (भगवान महावीर) कहते हैं।

इसी तरह बिना गुण के कोई द्रव्य नहीं होता और बिना द्रव्य के गुण

नहीं होता। ज्ञान आदि गुण के बिना आत्मा कुछ नहीं है, और आत्मा के बिना ज्ञान गुण भी कुछ नहीं है। यानी – गुण और द्रव्य अभेद रूप हैं।

पंचास्तिकाय में बताया है –

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ।। 13 ।।

अर्थ – द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता है, इस कारण द्रव्य और गुणों का परस्पर अव्यतिरिक्त [अभेद] भाव है। उसी प्रकार गुण की कोई न कोई पर्याय [दशा] होती है, इसलिये बिना पर्याय के गुण नहीं होता और गुण के बिना कोई पर्याय नहीं होती। ज्ञान गुण है तो उसकी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इनमें से कोई न कोई पर्याय अवश्य होती है।

इस तरह द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनों अभेदात्मक एक रूप भी है क्योंकि एक दूसरे के बिना क्षण भर भी नहीं ठहर सकते। और भेदात्मक भी हैं क्योंकि तीनों के लक्षण [तीनों को भिन्न-भिन्न समझने के चिन्ह] अलग-अलग हैं। जो द्रव्य है सो पर्याय नहीं है, जो पर्याय है सो द्रव्य नहीं है। जो गुण है सो न द्रव्य है, न पर्याय है। जो द्रव्य है सो गुण नहीं है।

इसी तरह इनके ग्रहण करने वाले नय भी पृथक-पृथक् हैं किन्तु वे परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

कर्म विनिर्मुक्त शुद्ध आत्म-द्रव्य, द्रव्यार्थिक नय का अपरनाम शुद्ध निश्चय नय का विषय है और कर्म-उपाधि सहित संसारी आत्मा अशुद्ध द्रव्यार्थिक या अशुद्ध निश्चय नय का विषय है। इसी प्रकार कर्ममुक्त शुद्ध आत्म-पर्याय [सिद्ध पर्याय] शुद्ध पर्यायार्थिक या शुद्ध व्यवहार नय का विषय है और आत्मा की कर्म-सहित संसारी पर्याय अशुद्ध पर्यायार्थिक अपरनाम अशुद्ध व्यवहारनय का विषय है।

यह उल्लेख स्पष्ट रूप से आलाप पद्धति में बतलाया गया है। वहाँ द्रव्यार्थिक (निश्चय नय के 10 भेदों में शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक

ये दो भेद भी हैं और पर्यायार्थिक [व्यवहार नय] के भी शुद्ध और अशुद्ध दो भेद हैं तथा दोनों द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों के दृष्टान्तों में सिद्ध और संसारी को, द्रव्य और पर्याय के रूप में उपस्थित किया है। समयसार की गाथा –

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।। 11।।

की व्याख्या करते हुए श्री जयसेन आचार्य ने लिखा है –

द्वितीयव्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः । न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धिणओ शुद्धनिश्चयनयोपि। दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोपि। इति व्याख्यानेन भूताभूतार्थव्यवहारोपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा, इति नयचतुष्टुयं।''

यानी-दूसरी व्याख्या से व्यवहार नय भूतार्थ भी है और अभूतार्थ भी है। केवल व्यवहार नय ही भूतार्थ अभूतार्थ रूप दो तरह का नहीं है किन्तु 'तु' शब्द से यह निश्चय नय भी भूतार्थ, अभूतार्थ रूप दो प्रकार का है। इसी तरह 1. भूतार्थ (शुद्ध) निश्चय नय, 2. अभूतार्थ (अशुद्ध) निश्चयनय, 3. भूतार्थ (शुद्ध) व्यवहार नय और 4. अभूतार्थ (अशुद्ध) व्यवहार नय इस तरह चार नय हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी द्रव्यसंग्रह में निश्चय नय के शुद्ध, अशुद्ध दो भेद बतलाये हैं, वे जीव के कर्ता अधिकार में लिखते हैं –

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ।।8।।

यानी-आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय आदि पुद्‌गल कर्मों का तथा च मकान वस्त्र आदि पदार्थों का कर्त्ता (करने वाला) है और निश्चय नय से अपने राग-द्वेष आदि चैतन्य कर्मों (भाव कर्मों) का करने वाला है तथा शुद्ध निश्चय नय से अपने शुद्ध भावों का करने वाला है। इन आर्ष ग्रन्थों की साक्षी से यह बात सिद्धि होती है कि निश्चय नय शुद्ध और

अशुद्ध या भूतार्थ और अभूतार्थ द्रव्य को ग्रहण करता है तथा व्यवहारनय भी भूतार्थ, अभूतार्थ (शुद्ध और अशुद्ध) पर्याय को ग्रहण करता है।

शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य-पर्याय

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आत्मा के गुण हैं। यदि ये गुण शुद्ध होते हैं यानी-क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, यथाख्यात चारित्र रूप होते हैं, द्रव्यकर्म-दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्र मोहनीय कर्म से अस्पृष्ट, अप्रभावित होते हैं, तो आत्म द्रव्य शुद्ध होता है। उस शुद्ध आत्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला नय शुद्ध द्रव्यार्थिक या भूतार्थ शुद्ध निश्चयनय होता है।

यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से तथा दर्शन मोहनीय रूप मिथ्यात्व के सम्पर्क से आत्मा का ज्ञान गुण अज्ञान [अल्पज्ञान तथा मिथ्याज्ञान] रूप होता है, दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का श्रद्धा गुण मिथ्यात्व रूप होता है, आत्मा का चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि भावकर्म रूप होता है, तो उन अशुद्ध गुणमय होने के कारण आत्मा अशुद्ध होती है। उस अशुद्ध आत्मद्रव्य को विषय करने वाला (जानने वाला) नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक या अभूतार्थ अशुद्ध निश्चयनय होता है।

कर्म-नोकर्म-रहित सिद्ध पर्याय आत्मा की शुद्ध पर्याय है। उस शुद्ध आत्म-पर्याय को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक यानी-शुद्ध व्यवहारनय है। सिद्धों का तथा अन्य शुद्ध द्रव्यों का उत्पाद व्यय इसी भूतार्थ (शुद्ध) पर्यायार्थिक अपरनाम शुद्ध व्यवहार नय का विषय है।

ज्ञानावरण, मोहनीय आदि कर्मों के उदय से आत्मा की अशुद्ध पर्याय होती है, नरक, पशु, मनुष्य, देव आयु तथा नरकगति, पशुगति, देवगति, मनुष्य गति कर्मों के उदय से संसारी आत्मा की नरक, पशु, मनुष्य और देव पर्याय आत्मा की अशुद्ध पर्याय है। उस अशुद्ध आत्म-पर्याय को विषय करने वाला नय अशुद्ध पर्यायार्थिक या अशुद्ध अथवा अभूतार्थ व्यवहार नय है।

इस तरह समयसार के टीकाकार श्री जयसेनाचार्य, आलापपद्धति के निर्माता श्री देवसेनाचार्य द्रव्यसंग्रह के रचयिता श्री सिद्धान्तिदेव नेमिचन्द्र

आचार्य का अभिप्राय है।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य जब अशुद्ध होते हैं तो उन अशुद्ध द्रव्यों का ग्राहक निश्चयनय शुद्ध न होकर अशुद्ध यानी अभूतार्थ निश्चयनय है। संसारी आत्म-द्रव्य कोई कल्पित द्रव्य नहीं है। अभव्य आत्मा तथा दूरातिदूर भव्य आत्मा अनादिकाल से अनन्त काल तक अशुद्ध रहा, अशुद्ध है और अशुद्ध ही रहेगा, ऐसे अमिट अपरिवर्तनीय अशुद्ध आत्मा का ग्राहक नय अभूतार्थ निश्चयनय ही हो सकता है। उसका ग्राहक न तो व्यवहारनय है क्योंकि व्यवहारनय पर्याय को ग्रहण करता है, पर्यायार्थिक का ही आध्यात्मिक नाम व्यवहार है। शुद्ध निश्चयनय ही नित्य-भाव कर्ममय आत्म-द्रव्य का ग्राहक नहीं बनता। अतः अभूतार्थ (अशुद्ध) निश्चनय ही अभव्य या दूरातिदूर भव्य को ग्रहण करता है।

इसी तरह आत्मा की नोकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म-रहित तथा प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद व्यय-सहित मुक्त दशा या सिद्ध पर्याय भूतार्थ व्यवहारनय का विषय है। अन्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन शुद्ध द्रव्यों की उत्पाद व्यय रूप पर्याय भी शुद्ध यानी-भूतार्थ व्यवहार नय का विषय है। अनित्यात्मक पर्याय होने से तो निश्चयनय (द्रव्यार्थिक नय) उसे विषय नहीं कर सकता और शुद्ध पर्याय होने के कारण अशुद्ध व्यवहार नय उसे ग्रहण नहीं कर सकता।

कहानपन्थ का गलत सिद्धान्त

अतः कहानपन्थ के साहित्य में व्यवहार नय को जो सर्वथा अभूतार्थ (असत्यार्थ) मानकर त्याज्य बतलाया जाता है, वह गलत है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टि से निश्चय नयानुसार जितना सत्य है, या भूतार्थ है, उतना ही सत्यार्थ या भूतार्थ पर्याय दृष्टि से व्यवहार नय अनुसार है। तथा च अशुद्ध पर्याय-ग्राही व्यवहार नय जिस तरह अभूतार्थ है, उसी तरह अशुद्ध द्रव्य-ग्राही निश्चय नय भी अभूतार्थ या असत्यार्थ होता है। किन्तु वह झूठ नहीं है। समयसार गाथा 14 की टीका में व्यवहारनय को भी अमृतचन्द्र आचार्य ने

सत्यार्थ कहा है।

समयसार गाथा 46 की टीका में श्री अमृतचन्द्र ने कहा है कि यदि व्यवहारनय को न माना जाये तो हिंसा, बन्ध, मोक्ष का अभाव हो जायेगा। निश्चय नय विषयक एकान्त भूतार्थ (सत्यार्थ) रूप मान्यता तथा व्यवहारनय विषयक एकान्त रूप से अभूतार्थ (असत्यार्थ) झूठ रूप मान्यता कहानपन्थ सिद्धान्त की मूल में वज्रभूल है। इस एक मूल गलती के कारण कहानपन्थ का फलित (कल्पित) सभी सिद्धान्त गलत बन गया है। क्योंकि जिस तरह व्यवहार नय का एकान्तवाद मिथ्यात्व है उसी तरह निश्चयनय का एकान्त पक्ष भी एकान्त मिथ्यात्व है।

आलापपद्धति ग्रन्थ में अंत में अध्यात्मनय का विवेचन निम्न प्रकार किया है -

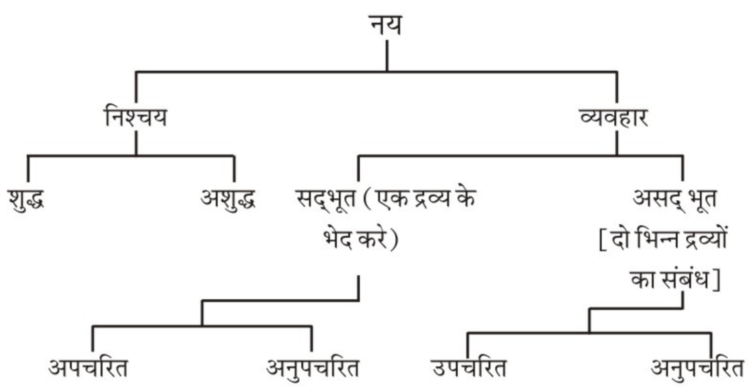

मोक्ष-मार्ग

आत्मा में संसार-भ्रमण के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अज्ञान और राग द्वेष आदि भावकर्म है वे दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय कर्म के निमित्त से होते हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में इस विषय पर यों प्रकाश डाला है-

जीवपरिणामहेदु, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवोवि परिणमइ ॥80॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणो, जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हंपि ॥81॥

अर्थ-जीव के राग द्वेष आदि परिणामों के कारण कार्माण पुद्गल ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मरूप परिणमन करते हैं और उसी तरह पौद्गलिक द्रव्यकर्म ज्ञानावरण आदि के उदय से निमित्त से जीव भी अज्ञान असंयम आदि रूप परिणमन करता है। जीव पौद्गलिक कर्म में कुछ नहीं करता और न पौद्गलिक कर्म आत्मगुणों में कुछ करता है, किन्तु परस्पर आत्मा और पौद्गलिक ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म के निमित्त से आत्मा और द्रव्यकर्मों का परिणमन होता है।

आत्मा जब तक अपने राग-द्वेष आदि भाव-कर्मों से तथा मोहनीय आदि द्रव्य कर्मों से एवं नोकर्म औदारिक आदि शरीर से मुक्त नहीं होता, तब तक वह अजर, अमर, पूर्ण-शुद्ध-स्वतंत्र नहीं हो पाता। तीनों तरह के कर्मों (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) से मुक्त होने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। इसी तरह तत्वार्थ-सूत्रकार की उमास्वामि आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र का आरम्भ करते हुए लिखा है-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

यानी-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग (कर्मों से मुक्ति का साधन) है। यह रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) दो प्रकार का है- 1. व्यवहार, 2. निश्चय। इसी कारण मोक्षमार्ग दो प्रकार का (निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग) ग्रन्थों में बतलाया गया है।

पूर्ण सम्यक्त्व, पूर्णज्ञान (केवल ज्ञान) और पूर्ण चारित्र (यथा-ख्यातचरित्र) या पूर्ण रत्नत्रय-मय आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन-भूत तरतमरूप से हीन अधिक मात्रा रूप चौथे,

पाँचवें, छठे आदि गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक का रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। अतः निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है। व्यवहार मोक्षमार्ग ही परिपक्व एवं पूर्ण होकर निश्चय रत्नत्रय रूप निश्चय मोक्षमार्ग हो जाता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में लिखा है-

धम्मादी सद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥160॥

अर्थ-धर्म, अधर्म, आत्मा आदि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अंग, पूर्व आदि का बोध सम्यग्ज्ञान है और बारह प्रकार के तपों को करना सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए अन्त में लिखा है-

''निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते''

यानी-यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।

अर्थ-निश्चयनय से उन तीनों (पूर्ण सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र) गुणमय जो आत्मा है जो कि अन्य न कुछ करता है, न छोड़ता है, वह आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है।

इस गाथा की टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है -

अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधन-भावो नितरामुपपन्न इति।

यानी-इस लिये निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य, साधन भाव अच्छी तरह से घटित होता है।

इसी प्रकार नियमसार तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी मोक्षमार्ग दो प्रकार का बताया है।

श्री अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में लिखा है-

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥22॥

-उपसंहार

अर्थ-मोक्षमार्ग दो प्रकार का है - 1-निश्चय, और 2-व्यवहार है। उनमें से पहला (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य है और दूसरा (व्यवहार मोक्षमार्ग) उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इस नियम के अनुसार साधन पहले होता है, पीछे उस साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इसीलिए व्यवहार धर्म या व्यवहार रत्नत्रय (अपूर्ण रत्नत्रय) पहले होता है। उस व्यवहार रत्नत्रय द्वारा ही निश्चयधर्म या निश्चयरत्नत्रय प्रकट होता है। यह व्यवहार रत्नत्रय, जो कि सराग सम्यक्त्व, सराग ज्ञान, सराग चारित्ररूप होता है, जब तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतराग सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप हो जाता है, तब उसका नाम निश्चय रत्नत्रय होता है। जैसे सुवर्ण-पाषाण 16 अग्नि-तापों से शुद्ध सुवर्ण बन जाता है।

इस तरह चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें आदि गुणस्थानों का व्यवहार रत्नत्रय बढ़ता हुआ, उत्तरोत्तर शुद्ध होता हुआ तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण और शुद्ध हो जाता है, अतः व्यवहार रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय का गुणस्थान क्रम से परम्परा तथा साक्षात् उपादान कारण है।

अतएवं व्यवहार रत्नत्रय उस निश्चय रत्नत्रय का कारण है और पूर्ववर्ती है।

इनमें सोनगढ़ (कहानपन्थ) की विपरीत मान्यता

इस विषय में कहानपन्थ साहित्य की मान्यता उल्टी है, जो कि पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसार आदि आगम के प्रतिकूल है। कहानपन्थ साहित्य की मान्यता है कि ''व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार धर्म अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग, उस निश्चय रत्नत्रय तथा निश्चय धर्म अथवा निश्चय मोक्षमार्ग का कारण नहीं है।''

श्री कहान जी भाई का यह भी कहना है–जैसे कि कहानपन्थ से प्रकाशित छहढाला की टीका (ढाल 2 पद्य 3) आदि में यह अभिप्राय लिखा है कि –

''निश्चय धर्म पहले होता है और उसके पश्चात् व्यवहार धर्म होता है।''

यह बात ऐसी उल्टी है, जैसे कोई यह कहे कि पुत्र के बाद माता-पिता का जन्म होता है। रोटी पहले बन जाती है और उसका आटा पीछे बनता है।

यदि निश्चय धर्म पहले हो जावे तो फिर व्यवहार धर्म की आवश्यकता क्या रहेगी?

कोई भी ग्रन्थकार आचार्य इस बात का प्रतिपादन नहीं करता। समस्त आर्ष आगमों के प्रतिकूल, तथा साध्य-साधन या कार्य-कारण नियम के प्रतिकूल यह कहानपन्थ साहित्य की वार्त्ता है।

कहानपन्थ वाले व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का साधन नहीं मानते किन्तु पंचास्किाय की गाथा 112 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है –

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधन-भावमवलम्ब्यानादि-भेद-वासितबुद्धयः सुखेनैवतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

इसी कारण

श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा अमृतचंद्र सूरि आदि ग्रन्थकारों के कथन-अनुसार आत्मा का निश्चय या पूर्ण शुद्ध धर्म 'साध्य' है और उस निश्चय धर्म को प्राप्त करने का साधन चौथे असंयत गुणस्थान से लेकर दशवें या बारहवें गुणस्थान तक का सराग तथा वीतराग अपूर्ण व्यवहार रत्नत्रय है तथा व्यवहार धर्म है। सातवें से दशवें गुणस्थान तक अव्यक्त राग और चौथे से छठे गुणस्थान तक व्यक्त राग होता है अतः दशवें गुणस्थान तक निश्चय या पूर्ण रत्नत्रय नहीं होता।

इसलिये जो भव्य मुक्ति का इच्छुक है उसे मिथ्यात्व का परित्याग करना चाहिये और सम्यक्त्व का ग्रहण एवं पाँच पापों का त्याग करके, इन्द्रिय-विषय, कषायों को मन्द करके अणुव्रती चारित्र तथा महाव्रती चारित्र ग्रहण करना चाहिये, जैसा कि कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में विधान किया है, तथा नियमसार में बतलाया है, श्री अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थ-सिद्धि उपाय में एवं अन्य श्री समन्तभद्र आदि आचार्यों ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में बतलाया है।

महाव्रत ग्रहण करके धर्मध्यान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। धर्मध्यान ही शुक्लध्यान बन जाता है। उस निर्विकल्प समाधि की अवस्था में महाव्रत, बोलने, विहार करने, ग्रन्थ निर्माण करने आदि प्रवृत्ति रूप में नहीं होते, क्योंकि उस दशा में प्रवृत्ति छूट जाती है।

इसी बात को पूज्यपाद आचार्य ने समाधिशतक में यों लिखा है–

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ 83॥
अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य, परम पदमात्मनः ॥ 84॥

अर्थ-व्रत न पालने से हिंसादिक पाप होते हैं और अहिंसादिक व्रतों द्वारा पुण्य होता है। पुण्य और पाप कर्मों के नष्ट हो जाने से आत्मा की संसार अवस्था से मोक्ष हो जाता है। इस कारण मोक्ष-इच्छुक (शुक्लध्यान के समय) व्रतों के विकल्प को भी छोड़े।

पापों का त्याग करके व्रतों को ग्रहण करना चाहिये और आत्मा परम पद (निर्विकल्प समाधि) में व्रतों के विकल्प भी त्यागे।

इस तरह इन्द्रियों की विषय-वासना मिटाने के लिये, काम विकार स्वादु-लोलुपता दूर करने के लिये एवं कषायों को मंद करने के लिए अणुव्रत, महाव्रत रूप चारित्र ग्रहण करने का विधान आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य आदि सभी ऋषि मुनियों ने उस चारित्र का आचरण

भी किया है। निश्चय धर्म पाने के लिए भगवान् ऋषभनाथ ने एक हजार वर्ष तक महाव्रत चारित्र का आचरण किया।

लेकिन श्री कहान जी भाईजी अणुव्रतों और महाव्रतों को आत्मा का विकार बतलाते हैं और व्यवहार चारित्र को त्याज्य (छोड़ने योग्य) कहते हैं।

पहली वार्ता

हिंसा-अहिंसा

श्री महावीर जी क्षेत्र पर हुए दि. जैन शास्त्रि परिषद् के अधिवेशन में जो 10 वाँ प्रस्ताव कहानपन्थ साहित्य के विरोध में सर्वसम्मति से पारित हुआ था उसमें सबसे पहली बात कहानपन्थ साहित्य के हिंसा के गलत विवेचन से संबंधित है। प्रस्ताव में कहानपन्थ से प्रकाशित आत्म-धर्म पत्र के वर्ष 1 अंक 4 पृष्ठ 21 तथा वर्ष 4 अंक 2 पृष्ठ 19 पर प्रकाशित लेख के अन्तर्गत प्रगट किये गये अभिप्राय का सारांश दिया था, जैसा कि प्रस्ताव में संक्षेप में दिया जाता है।

श्री पं. वंशीधर जी कलकत्ता ने अपने ट्रैक्ट में पृष्ठ 5 से 8 तक उसके समाधान करने का यत्न किया है।

आपने आत्मधर्म में प्रकाशित दोनों अंकों के लेखों का कुछ भाग इस समाधान में उद्धृत किया है। उस उद्धरण में हिंसा के विवेचन पर निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं -

''लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं। किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से भिन्न ही है। उन्हें पृथक् करने की बात औपाचारिक है।''

''निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है। जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं और जड़ को मारने में हिंसा नहीं होती।''

कहानपन्थ साहित्य का यह कथन जैन आगम के अनेकान्त सिद्धान्त के

विरुद्ध है क्योंकि जैन आगम में शरीर व आत्मा को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न माना है। इसीलिए चरणानुयोग-सम्बन्धी जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सभी ग्रन्थों में किसी भी जीव को लाठी, तलवार, पत्थर आदि किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मार देने को, यानी उस शरीर से उस आत्मा को अलग कर देने को हिंसा कहा गया है।

इस विषय पर श्री अमितिगति आचार्य अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में लिखते हैं-

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गत-विवेकाः।
कायवधे हन्त कथं, तेषां संजायते हिंसा ॥ 6-21॥

अर्थ-जो अविवेकी मनुष्य आत्मा और शरीर को सर्वथा पृथक् कहते हैं, शोक है कि शरीर के वध कर देने में (मार डालने में) उनके हिंसा कैसे होती है? यानी-आत्मा जब शरीर से सर्वथा भिन्न है तो किसी जीव का शरीर-घात कर देने पर हिंसा नहीं होनी चाहिये।

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीडा संजायतेतरां घोरा।
देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥6-22॥

अर्थ-द्रव्यदृष्टि से शरीर और आत्मा कथंचित् भिन्न हैं और पर्यायदृष्टि से कथंचित् शरीर और आत्मा अभिन्न हैं, ऐसे (भिन्न-अभिन्न) आत्मा के चूंकि शरीर के पृथक् होने पर (शरीरघात होने पर) अत्यंत घोर पीड़ा होती है, इसीलये किसी जीव के शरीर का घात करने पर हिंसा अवश्य होती है।

श्री अमितिगति आचार्य के इन आर्ष वाक्यों से कहानपन्थ साहित्य की पूर्वोक्त बात खंडित हो जाती है।

प्रत्येक संसारी जीव वह चाहे छोटा-सा कीड़ा हो अथवा बड़ा पशु, पक्षी, जलचर जीव या मनुष्य हो, सदा शरीर सहित होता है, बिना शरीर के कोई भी जीव कभी नहीं होता। विग्रह गति में यद्यपि जीव एक, दो, तीन समय के लिये औदारिक आदि शरीर-रहित होते हैं, परंतु इस समय भी उन जीवों के सूक्ष्म तैजस कार्माण शरीर अवश्य होते हैं, वे दोनों शरीर तो मुक्त होने तक प्रत्येक जीव के बने ही रहते हैं। तथा उन अदृश्य शरीरों का न कोई घात करता

है और न कर सकता है, हिंसा का व्यवहार उन शरीरों की अपेक्षा बताया भी नहीं गया। वैक्रियिक, आहारक शरीरों की हिंसा भी मनुष्यों द्वारा नहीं की जा सकती। अतः धर्मग्रन्थों में जिस हिंसा, अहिंसा का विधान है वह मुख्यतः औदारिक यानी-जलचर, थलचर, नभचर, पशु पक्षियों, कीड़े-मकोड़े आदि तथा मनुष्यों के शरीर के घात-अघात से ही संबंधित है।

संसारी जीव जो अपने योग्य 5 इन्द्रिय, 3 बल, आयु और श्वास-उच्छवास इन 10 प्राणों द्वारा जीवित रहता है, वे द्रव्यप्राण शरीर सम्बन्धी ही हैं। प्रत्येक मनुष्य तिर्यंच, वह चाहे टट्टी का कीड़ा ही क्यों न हो, जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता, जीने में प्रसन्न रहता है, मरने से भयभीत रहता है। ऐसी दशा में किसी जीव को चोट पहुँचाकर क्षत विक्षत (घायल) करना अथवा उसका घात करना (मार डालना) उस जीव को दुःख देने वाली हिंसा नहीं तो और क्या है।

जब कोई भी जीव अपने जीवन के आधारभूत अपने शरीर से अलग होना नहीं चाहता, तब उस जीव को मार कर उस शरीर से अलग कर देने को भी हिंसा न माना जाय, इस बात को सोनगढ़ (कहानपन्थ) साहित्य के सिवाय अन्य कोई जैन धर्मग्रन्थ नहीं कह सकता।

मुनियों को अहिंसा व्रत पालने का विधान करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में लिखा है-

कुलजोणिजीवमग्गण ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण परिणामो होइ पढमवदं ॥ 56॥

अर्थ-जीवों के कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि जानकर उनके आरम्भ से निवृत्ति रूप परिणाम वह पहला अहिंसा व्रत है।

इसकी टीका में स्वयम्भूस्तोत्र का 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' आदि श्लोक तथा निम्नलिखित श्लोक लिखा गया है -

त्रसहतिपरिणामध्वान्त विध्वंसहेतुः,
सकल भुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।

स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां,
विविधविधविदूरश्चारुशर्म्माब्धिपूरः ।।

अर्थ - त्रस (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) जीवों के घात के परिणामरूपी अन्धकार के नाश का जो कारण है तथा समस्त जगत् के जीवों को सुखदायी है एवं स्थावर यानी एकेन्द्रिय जीवों के घात करने से जो दूर है और सुखसागर से भरपूर है, वह जैनधर्म जयवन्त है।

चारित्र पाहुड़ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं -

थूले तसकायवहे.................परिहारो ॥24॥

अर्थ-त्रसकायिक जीवों की हिंसा का त्याग अहिंसा अणुव्रत है।

हिंसाविरइ अहिंसा......................

अर्थ-हिंसा से विरक्त होना अहिंसा महाव्रत है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में लिखते हैं-

यत्खलु कषाययोगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करण, सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥43॥

अर्थ-कषायभाव से जो द्रव्य-प्राणों (इन्द्रिय, शरीर, आयु, श्वास का) तथा भाव प्राणों (सुख शान्ति) का घात करना सो हिंसा है।

तत्त्वार्थसार में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं -

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम्।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा सप्रकीर्तिता ॥4-47॥

अर्थ-प्रमाद से द्रव्य प्राणों तथा भाव प्राणों का घात करना हिंसा है।

श्री सोमदेव सूरि यशस्तिलक चम्पू के अन्तर्गत उपासकाध्ययन में लिखते हैं -

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥ 26-318॥

अर्थ-प्रमाद रोग से जीवों का प्राण-घात करना हिंसा है और उनके प्राणों की रक्षा करना अहिंसा है।

इसी प्रकार अन्य भी समस्त आचार ग्रन्थों में हिंसा की परिभाषा शरीर-

घात तथा भाव-घात करना बतलाया है। यदि कहानपन्थ साहित्य के लिखे अनुसार शरीर से आत्मा के अलग कर देने को भी हिंसा न माना जावे तो समस्त चरणानुयोग के ग्रन्थ असत्य ठहरते हैं।

सबसे बड़ा पाप या सबसे बड़ा अविरत ''हिंसा'' है। और सबसे बड़ा धर्म तथा सबसे बड़ा व्रत 'अहिंसा' है, ऐसा जैनधर्म का सार है। समस्त व्रत अहिंसा व्रत की शाखा रूप हैं। श्रावकों के 12 व्रत अहिंसा अणुव्रत की ही उपशाखाएँ हैं। 11 प्रतिमाओं का आचरण उत्तरोत्तर अहिंसाव्रत का ही वर्द्धमान रूप है। समस्त मुनि-चर्या सत्य आदि महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति आदि अहिंसा महाव्रत की शाखा रूप हैं।

यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकाच्छरीरिभिः।
श्वभ्रादौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ 8-12 ॥ (ज्ञानार्णव)

अर्थ-शरीर-धारियों के घात करने से अर्थात् शरीर और आत्मा को पृथक् करने से जो पाप-उपार्जन होता है, उस के फल रूप नरकादि गतियों में जो दुख भोगना पड़ता है, वह दुख वचनों से नहीं कहा जा सकता।

(अतः सुख भोगी बनकर हिंसादि पाप छोड़ने में आलसी बनकर प्रमाद व दरिद्रता ना करें।)

निश्चय और व्यवहार

संसार अवस्था व्यवहारनय-आश्रित है। कर्म-आस्रव, कर्म-बन्ध, जन्म, मरण, संसार-भ्रमण, राग-द्वेष आदि विकृत भाव, अहिंसा आदि व्रत, तप, नियम, ध्यान, अध्ययन, संवर, निर्जरा, पाप, व्यसन, खान-पान, आहार, विहार आदि सभी बातें व्यवहार रूप हैं। जिस जन्म, मरण दोष का नाश करने पर मुक्ति मिलती है, वह जन्म, मरण भी व्यवहार रूप है। इसी तरह संसार के अन्य सभी कार्य व्यवहार रूप हैं। निश्चय में न बंध है और न मोक्ष है।

जैसे कर्म-बन्धन और उसके कार्य (फल) व्यवहार रूप हैं, इसी तरह कर्म-मोचन भी व्यवहार रूप है। अर्हन्त भगवान व्यवहार रूप हैं, जिनवाणी व्यवहार रूप है, समयसार व्यवहार रूप है, प्रवचनकार व्यवहार

आत्मा है, उनका प्रवचन व्यवहार है। फिर उनका यह कहना ही गलत है कि -

'निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता।'

क्योंकि निश्चय में तो अहिंसा का भी विकल्प नहीं है। निश्चय में तो कोई कुछ कह भी नहीं सकता, कुछ भी लिख नहीं सकता, कोई भी मुमुक्षु निश्चय में किसी का प्रवचन भी सुन नहीं सकता। पण्डित जब स्वयं व्यवहार की मूर्ति है, तब वे निश्चय की बात भी क्या कह सकते हैं?

कहानपंथी-साहित्य का कोई भी श्रद्धालु जरा किसी मनुष्य का आत्मा उसके शरीर से पृथक् कर देवे और निश्चय नय का अनुभव (ऐक्सपैरीमेन्ट) करके देख ले।

शरीर जब जड़ है और जड़ को मारने से हिंसा होती नहीं है, तब आचार्य कुन्दकुन्द आदि महान ग्रन्थकारों के द्वारा की गई हिंसा की परिभाषा और व्याख्या गलत है या नहीं? पं. वंशीधर जी को इस कथन का स्पष्टीकरण देना चाहिए था। नहीं तो जिनवाणी गलत ठहरती है। संसार में फिर न कुछ पाप रहता है, न पुण्य, न कोई अपराध ठहरता है।

इस तरह कहानपंथी साहित्य का विधान सारा मामला चौपट कर देता है।

शास्त्राधार

पं. वंशीधर जी ने इस विषय में चार शास्त्राचार दिये हैं, उनमें से किसी भी आधार पर यह बात सिद्ध नहीं होती कि -

'जीव को शरीर से भिन्न कर देने पर हिंसा नहीं होती'

1-तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा की परिभाषा में 'प्रमाद योग से प्राणों के घात को हिंसा' कहा है। पं. वंशीधर जी इसका यह अभिप्राय कहां से निकाला है कि 'शरीर और आत्मा को अलग कर देने पर हिंसा नहीं होती' प्राण का अभिप्राय तो शरीर से है।

प्रमत्तयोग छठे गुणस्थान तक रहता है, उससे आगे ध्यान-अवस्था है, अतः शरीर से आत्मा को भिन्न करना तो प्रमाद योग से ही होता है, अतः वह

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार हिंसा है।

2-पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के श्लोक 44 के अनुसार राग भाव नष्ट हो जाने पर वास्तव में दशवें गुणस्थान के ऊपर ही अहिंसा हो सकती है। अथवा अव्यक्तराग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान से हो सकती है। उस अहिंसा का अधिकारी भरत क्षेत्र का आजकल का कोई भी अध्यात्म-उपदेष्टा, व्रती, अव्रती, मुमुक्ष नहीं है। अतः द्रव्य-भाव-प्राणघात रूप जो व्याख्या पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के 42 वें श्लोक में है, वह ठीक है।

3-समयसार की 238 से 246 तक की गाथायें बन्धाधिकार की हैं, उनमें कर्म-बन्ध की वार्त्ता है, उनमें हिंसा की व्याख्या नहीं है। अतः यह आधार इस विषय में व्यर्थ है।

4-प्रवचनसार गाथा 217 में अप्रमादी मुनि के द्वारा जीवघात हो जाने पर बंध न होना बतलाया है, उसका अभिप्राय कहानपंथी साहित्य की हिंसा-विधायक व्याख्या से भिन्न है। यत्नाचार से चलने वाला मुनि किसी जीव को शरीर से भिन्न नहीं करता, यानी किसी जीव को मारता नहीं है किन्तु कहानपंथी का साहित्य कहता है कि 'आत्मा शरीर से भिन्न है, अतः शरीर से आत्मा को भिन्न कर देना हिंसा नहीं हैं, जड़ शरीर को मारने से हिंसा नहीं होती।' इस तरह प्रवचनसार के आधार से कहानपंथी साहित्य के विधान का समर्थन नहीं होता। यहां इतना ध्यान और भी रखना आवश्यक है कि यदि ईर्या समिति से सावधानी से चलते हुए भी मुनि के पैर के नीचे अचानक कोई जीव आकर मर जावे, तो मुनि उसका भी प्रायश्चित्त लेते हैं। देखो प्रवचनसार गाथा 217 की टीका-

एवमध्यन्तरच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगच्छेदोभ्युपगम्येतैव।

अर्थ - ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद (हिंसा) अन्तरंग छेद (हिंसा) का आयतन मात्र है, इसलिए उसे मानना ही चाहिये।

दूसरी वार्ता

प्रस्तावित कहानपंथी साहित्य की दूसरी वार्त्ता यह है -

''जीव-रक्षा, दयाभावना परमार्थ से जीव हिंसा है।''

कहानपंथी साहित्य का यह कथन भी आगम-विरुद्ध है।

आत्मा का सर्वोत्कृष्ट धर्म अहिंसा है, वह अहिंसा दया भाव से उत्पन्न होती है। निर्दय जीव ही परघात करके हिंसा करते हैं, दयालु मनुष्य किसी की हिंसा नहीं करता। दया भावना के कारण ही मांस खाने का, अण्डा खाने का, शराब पीने का, शहद खाने का त्याग किया जाता है। मनुष्य में यदि दया की भावना न हो तो सिंह, चीता, भेड़िया के समान मनुष्य भी समस्त जीवों को मार कर खा जावे।

उस जीव-रक्षा करने वाली दया को जीव हिंसा बतलाना उलटी बात है।

धर्म की व्याख्या करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य बोधपाहुड़ में लिखते हैं -

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसङ्गपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाणं ॥ 25॥

अर्थ-दया से विशुद्ध धर्म, समस्त परिग्रह से रहित प्रव्रज्या, मोह रहित देव, भव्यजीवों का कल्याण करने वाले हैं।

यानी-श्री कुन्दकुन्द आचार्य धर्म उसी को मानते हैं जो दयामय है।

कहानपंथी से प्रकाशित नियमसार ग्रन्थ के 19वें पृष्ठ पर टीकाकार द्वारा उद्भूत निम्नलिखित गाथा है-

सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ।।

अर्थ-धर्म वह है जहाँ दया है, तप वह है जिसमें विषयभोगों का निग्रह (नियंत्रण) है, आराध्य देव वह है जिसमें 18 दोष नहीं हैं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है -

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सोहु सद्दिट्ठी ॥317॥

अर्थ – जो दोषरहित देव को, समस्त जीवों पर दया करने वाले धर्म को तथा निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

हिंसारंभो ण सुहो देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो दयापहाणो जदो धम्मो ॥ 406 ॥

अर्थ – देव के निमित्त या गुरु के निमित्त हिंसा करना शुभ कार्य नहीं है क्योंकि हिंसा को पाप माना गया है और धर्म दया-प्रधान है यानी-धर्म में दया प्रधान है।

देवगुरूण णिमित्तं हिंसासहिदोवि होदि जदि धम्मो।
हिंसारहिदो धम्मो, इदि जिणवयणं हवे अलियं ॥ 407 ॥

अर्थ – यदि देव, गुरु के निमित्त किया हुआ हिंसा कार्य भी धर्म होता तो जिनेन्द्र भगवान का यह वचन असत्य हो जाता कि "धर्म हिंसा-रहित होता है।"

श्री कहानजी भाई जीवहिंसा और जीवदया को आत्मा का विकार बतलाते हैं एवं जीवदया से धर्म होना नहीं बतलाते, तब स्वामी कार्तिकेय स्पष्ट रूप से जीवदया को धर्म कहते हैं।

ट्रैक्ट के 9वें पृष्ठ पर अंकित कहानपंथी साहित्य का यह कथन भी गलत है कि "पर-जीव को कोई नहीं मार सकता"

बूचड़खानों में कसाईयों द्वारा हजारों लाखों बकरी, गाय, सूअर आदि पशु प्रतिदिन मारे जाते हैं। शिकारी लोग प्रतिदिन हजारों पशु-पक्षियों को मारते हैं। मछलीमार लाखों मछलियाँ प्रतिदिन मारते हैं। सिंह आदि हिंसक पशु प्रतिदिन कई पशुओं को मार कर खाते हैं कीटकमार औषधियों से प्रतिदिन असंख्य कीड़े-मकोड़े मारे जाते हैं। तब यह कहना या लिखना गलत है कि 'परजीव को कोई नहीं मार सकता।'

निकाचित आयु वाले जीव को कोई नहीं मार सकता परन्तु उसको भी क्षतविक्षत (घायल) तो किया जा सकता है, इस तरह द्रव्य हिंसा तथा भाव हिंसा तो उसकी भी की जा सकती है। जिन जीवों को अनपवर्त्य आयु नहीं

होती उनको तो विष, शस्त्र, अग्नि आदि द्वारा मारा जा सकता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड़ में लिखा है –

विसवेयण - रत्तक्खय - भयसत्थग्गहण - संकिलेसेण।
आहारुस्सासाणं णिरोहणे, खिज्जए आऊ ॥25॥
हिम-जलण-सलिल-गुरुयर-पव्वय-तरु-रुहण-पडण-भंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणणपसंगेहिं विविहेहिं ॥26॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥27॥

अर्थ – विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, आहार तथा श्वास का रुकना, बर्फ, अग्नि या जल में गिरना, ऊँचे पर्वत तथा वृक्ष से गिर जाना, घातक रसायन से, बिजली गिरने, समाधि लगाने आदि घटनाओं से आयु क्षीण हो जाती है। इस तरह हे मित्र ! तिर्यञ्च और मनुष्य भव में उत्पन्न हो होकर तूने (धर्म की अनभिज्ञता व लौकिक सुख की कांक्षा से) बहुत बार अकाल मृत्यु का महान दुख पाया है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य के इस कथन से कहानपंथी-साहित्य की ऊपरी बात असत्य प्रमाणित होती है। कहानपंथी का साहित्य अकालमरण नहीं मानता, उस मान्यता का खण्डन भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य की इन तीन गाथाओं द्वारा होता है। ज्ञानार्णव में लिखा है –

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥ 48-57 ॥

अर्थ – इस लोक में ऐसा कोई भी जिनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती रूप कल्याण पद नहीं है जो जीव-रक्षा के अनुराग से प्राप्त न होता हो। अर्थात् जीव-रक्षा के अनुराग से अरहंत पद की भी प्राप्ति हो सकती है।

धर्मो नाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥ 5। 35 ॥ (छत्रचूड़ामणि)

अर्थ – धर्म की जड़ कृपा (दया) है। जीवों पर अनुकम्पा करना दया है। अरक्षित प्राणियों की रक्षा करना धर्मात्मा का लक्षण है।

'सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा।'(वसु श्रा.गा. 94)

अर्थ–सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण अनुकंपा (दया) कहा गया है।

दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम्।
दग्धधर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ॥ 23॥
जिनेन्द्रविहिते सोऽयं मार्गे परम दुर्लभे।
सदा सन्निहितो येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते ॥24॥(पद्म पु. पर्व 85)

अर्थ–जो धर्म दया–मूलक है वही महाकल्याण का कारण है। संसार के अन्य दग्ध धर्मों में वह दयामूलक धर्म कभी भी विद्यमान नहीं है अर्थात् उनसे भिन्न है। वह दयामूलक धर्म जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रणीत परमदुर्लभ मार्ग में सदा विद्यमान रहता है, जिसके द्वारा तीन लोक का अग्रभाग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गलत–आधार

दया भावना की 'जीव हिंसा' प्रमाणित करने के लिए पं. वंशीधर जी ने पांच शास्त्रीय आधार दिये हैं, वे भी गलत है–

1–मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ 331 से 333 तक का कथन आस्रव तत्व की मुख्यता से किया गया है, अतः श्री पं. टोडरमल जी ने वहाँ अहिंसा आदि से केवल पुण्य–आस्रव होना बतलाया है। अहिंसा आदि व्रतों से पांचवें, छठे गुणस्थान में जो अनेक कर्मों का संवर और निर्जरा होती है, उसका कथन वहाँ उन्होंने नहीं किया। यह कथन उन्होंने पृष्ठ 340 तथा 341 पर निम्नलिखित किया है–

''स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का अंश रहे, सो जेती शुद्धता भाव ताकरि तो निर्जरा है और जेता शुभभाव है ताकरि बन्ध है। ऐसा मिश्रण भाव युगपत् हो है, तहां बन्ध वा निर्जरा दोऊ ही हैं।''

इसके सिवाय गोम्मटसार की गाथा 97 तथा 98 के अनुसार पांचवे गुणस्थान तथा छठे गुणस्थान के दयाभाव या अहिंसा चारित्र द्वारा अनेक कर्म प्रकृतियों का संवर भी होता है।

धवलपुस्तक 8 पृष्ठ 83 पर तथा जयधवल पुस्तक 1 पृष्ठ 107 पर श्री वीरसेन आचार्य ने अहिंसा आदि व्रतों रूप शुभ भावों से भी असंख्यातगुणी निर्जरा होना बतलाया है।

इसलिये मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ 331–332–333 का कथन पृष्ठ 340–341 तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं धवल, जयधवल के साथ मिलाकर ठीक तरह से समझना चाहिये।

श्री पं. टोडरमल जी ने 'दया को जीव हिंसा' कहीं नहीं बतलाया है। अतः यह आधार आपका मनोरथ सिद्ध नहीं करता।

2–समयसार के कलश 169 में यह बतलाया है कि ''अन्य जीव के रक्षक तथा मारक मानने के अभिमान करने वाले मिथ्यादृष्टि होते हैं। अभिमानी मिथ्यादृष्टि अपना घात करते हैं।'' उस कलश का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि 'पुरुष जो जीवदया करता है उसका वह दयाभाव 'हिंसा' है।' अतः इस कलश से कहानपंथी साहित्य की दया–विषयक गलत मान्यता का समर्थन नहीं होता।

3–निर्दयता की विरक्ति रूप 'दया' आत्मा का विकार नहीं है, विकार तो निर्दयता है, हिंसा है, अतः दया द्वारा आत्म–स्वभाव का घात नहीं होता।

केवलज्ञान के 10 अतिशयों में एक अतिशय अर्हन्त भगवान के 'अदया का अभाव' है। अतः अर्हन्त भगवान को सर्वोत्कृष्ट दयालु माना जाता है, उनके शरीर से भी किसी भी जीव का रंचमात्र घात नहीं होता। अतः अदया आत्मा का विकार है, दया आत्मा का विकार नहीं है।

श्री वीरसेन आचार्य ने धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में दया को आत्मा का स्वभाव बतलाया है। वे लिखते हैं –

''करुणाए कारणं कम्मं करुणेत्तिं किं ण बुत्तं ? ण, करुणाए

जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।'' अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं? ण एस दोसो, संजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।

अर्थ-(शंका) करुणा (दया) का कारणभूत कर्म 'करुणा' कर्म है, यह क्यों नहीं कहा? समाधान-नहीं, क्योंकि करुणा (दया) जीव का स्वभाव है, उस करुणा (दया) को कर्म-जनित मानने में विरोध आता है।

शंका-तो फिर अकरुणा (अदया) का कारण कर्म कहना चाहिये।

समाधान-यह कोई दोष नहीं, क्योंकि अकरुणा (अदया) संयम-घाती (चारित्रमोहनीय) कर्म का फल है।

इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थ दया को आत्मा का स्वभाव और हिंसा को मोहनीय कर्म का फल (क्रोध, द्वेष आदि रूप में) कहता है।

अतः आत्म-अवलोकन ग्रन्थ का आधार भी कहानपंथी साहित्य के लिये निराधार है।

4-मोक्षमार्ग प्रकाशक का 335 पृष्ठ का कथन बन्ध की मुख्यता से कहा गया है, वहाँ पर '**स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः**' सूत्रानुसार दयामय अहिंसाव्रत तथा समिति, चारित्र द्वारा होने वाले संवर का तथा असंख्यात गुणी निर्जरा का कथन गौण रक्खा है। उस कथन को मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ 340-341 कथन के साथ मिलाकर पढ़ने से तथा तत्त्वार्थसूत्र के पूर्वोक्त सूत्र एवं गोम्मटसार में प्ररूपित पाँचवें छठे गुणस्थान के संवर प्रकरण को पढ़ने से श्री पं. टोडरमल जी का कथन ठीक तरह समझ में आ सकेगा। और कहानपंथी साहित्य का यह भ्रम दूर हो जायेगा कि 'दया से, अहिंसा से केवल कर्मबन्ध होता है।'

दया, अहिंसा के 'अदया-हिंसा की निवृत्ति रूप अंश से' संवर और निर्जरा भी होती है। अतः शास्त्राधार भी निराधार है।

5-पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय के श्लोक 42 में 40 वें श्लोक के पूर्वार्द्ध को लक्ष्य रखकर असत्य वचन, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह को आत्म परिणाम के

घात का कारण बतलाते हुए उन चारों पापों को हिंसा रूप कहा है।

44 वें श्लोक में भाव-हिंसा-विषयक राग द्वेष क्रोध आदि परिणामों की अनुत्पत्ति को अहिंसा और भाव हिंसा-विषयक रागद्वेष क्रोध आदि भावों की उत्पत्ति को हिंसा बतलाया है।

पूर्णतः रागादि भाव 10वें गुणस्थान के ऊपर नहीं होते, अतः अहिंसा का पूर्ण रूप उन चार (11-12-13-14) गुणस्थानों में प्रगट होता है।

43 वें श्लोक में ग्रन्थकार ने द्रव्यप्राण तथा भावप्राणों के घात करने को स्पष्ट रूप से हिंसा बतलाया ही है।

अतः पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय से भी कहानपंथी साहित्य की बात सिद्ध नहीं होती। इसलिये यह आधार भी पं. वंशीधर जी के लिये निराधार ही है। श्री अमृतचन्द्रसूरि हिंसा-अहिंसा तथा दया-अदया के विषय में संदेहात्मक परस्पर-विरोधी कथन नहीं कर सकते।

तीसरी वार्ता

शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव में कहानपंथी-साहित्य का आगम-विरुद्ध तीसरा सारांश रक्खा गया था कि-

''व्रत तप दया के शुभभाव आत्मा के विकार हैं, बन्ध रूप है।''

श्री पं. वंशीधर जी ने इसी सारांश को कहानपंथी साहित्य के पूर्ण वाक्य से दिया है -

व्रत तप दयादि के शुभ भाव हों अथवा चोरी हिंसा आदि अशुभ भाव हों सो वे दोनों विकार हैं, बन्धनमात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभ भाव ठीक हैं किन्तु उनसे धर्म नहीं होता।

बुद्धिमान पाठक देखें कि शास्त्रि परिषद् के प्रस्तावित संक्षिप्त वाक्य में और कहानपंथी साहित्य के इस वाक्य में कुछ अन्तर नहीं है। अस्तु।

जैन धर्म में श्रद्धान, विचार और आचार की प्रत्येक वार्त्ता संसार, परिभ्रमण से तथा उसके कारणभूत कर्मबन्धन से छूटने के लिए बतलाई गई

है। चरणानुयोग का कोई भी विधान कर्म-बन्धन कराने वाला नहीं किया गया। यदि कोई व्यक्ति जैन सिद्धान्त के चरणानुयोग की किसी बात को कर्म-बन्धन मानता है तो उसे अपनी गलत समझ का संशोधन करना चाहिये, न कि गलत लकीर को पीटते जाना चाहिये।

कहानपंथी साहित्य के मूल आधार स्तम्भ सोनगढ़ के आद्य आध्यात्मिक उपदेष्टा श्री कहानजी भाई हिंसादिक पापों में और अहिंसादिक व्रतों में, इन्द्रियों के इष्ट प्रिय रुचिकर भोगों में तथा अन्तरंग-बहिरंग तपों में, परिग्रह के संचय करने में एवं दान द्वारा परिग्रह के परित्याग में कर्म बन्धन की अपेक्षा से भी अन्तर न समझ पाये और श्री पं. वंशीधरजी कलकत्ता अन्धश्रद्धा के तौर पर उस गलत बात का समर्थन करते गये, यह बात महान आश्चर्य जनक और खेदजनक है।

कर्मबन्धन की अपेक्षा यदि कोई व्यक्ति पाप और पुण्य में, व्रत और अव्रत में, तप और इन्द्रिय विषय-भोगों में एवं दान और परिग्रह-संचय में कुछ अन्तर नहीं समझे, तो उन्हें कर्मबन्ध का विशद विवेचन करने वाला गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता होती है। कर्म-बन्धन की प्रक्रिया को बिना समझे चाहे जो कुछ लिख देना उचित नहीं है।

आप जिन कुन्दकुन्द आचार्य को अपना आदर्श गरु मानकर उन पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं उनकी वाणी का ध्यान से अध्ययन करें। वे निःस्पृह, विश्वहितैषी साधु थे, वञ्चक नहीं थे, कर्मबन्धन और कर्ममोचन के महान ज्ञाता विद्वान थे। जब वे अपने ग्रन्थों में अहिंसा आदि व्रत पालन करने का, अन्तरंग-बहिरंग तप करने का, दयाभाव करने का स्पष्ट उपदेश देते हैं, तब क्या वे जीवों को कर्म-बन्धन में डालकर संसार में परिभ्रमण कराने की नीति का उपयोग करते हैं? क्या गुरु की श्रद्धा का यही प्रमाण है?

यदि पाप और व्रत, हिंसा और अहिंसा, दया और अदया (निर्दयता) एक ही कोटि में हो, तो संसार में अन्धेर मच जायेगा, मनुष्य की बुद्धि पशु से भी अधिक भ्रष्ट होकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य हो जायेगी,

फिर, मद्य, माँस, मैथुन, मीन और मुद्रा को मुक्ति मार्ग कहने वाले 'वाममार्ग' में तथा उनका निषेध करने वाले जैनधर्म में अन्तर न रहेगा।

कोई व्यक्ति व्रत, तप, संयम नहीं पालन कर सके या न करना चाहें तो न करें किन्तु उस व्रत, तप, संयम के प्रशस्त मार्ग को हिंसा आदि अव्रत, यथेच्छ विषयभोग, निर्दयता आदि अप्रशस्त मार्ग से तो न मिलावें। इस मिलान से साधारण जनता विवेकभ्रष्ट होकर पतन के गर्त में गिरने से न बच सकेगी। सज्जन-दुर्जन, सदाचारी-दुराचारी, धार्मिक और पापियों में कुछ अन्तर न रहेगा।

पहले तो कहानपंथी साहित्य के समर्थकों को यह समझना चाहिये कि-

हिंसादिक पापों के करने में महान् राग-द्वेष और क्रोध मान, लोभ आदि तीव्र कषाय होते हैं। उन तीव्र कषायों के क्षयोपशम होने पर भी अहिंसा आदि व्रत पालन होता है। इष्ट, गरिष्ठ, स्वादिष्ट भोजन करने, सुखपूर्वक रुचि के साथ कोमल शय्या पर शयन करने, मोटर आदि में विहार करने, काम-क्रीड़ा करने आदि में उत्कट राग भाव होता है और इन विषयभोगों का त्याग रूप तप, संयम, धर्म, उस उत्कट राग भाव को घटाने के लिए होते हैं। तथा परिग्रह-संचय करने में देशद्रोह, समाजद्रोह, अनीति, छल, चोरी, बेईमानी आदि दुर्भाव भी प्रायः आया करते हैं, जबकि दान करने में उस परिग्रह से मोह भाव छूटता है। तो जो कर्म-बन्ध उन तीव्र कषायों या निकृष्ट दुर्भावों द्वारा होता है, वे ही तीव्र कषाय या दुर्भाव व्रत, तप, दान आदि करने से नहीं होते।

ऐसी दशा में वीतराग धर्म के श्रद्धालु के व्रत, तप, संयम, दया, दान आदि से कर्म का संवर और अविपाक निर्जरा होगी या नहीं? सांसारिक राग के कर्मबन्धन होता है और संसार-विराग-पापविरक्ति विषयभोग-विरक्ति, अदया-विरक्ति, परिग्रह-विरक्ति से कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा होती है, यदि इतना-सा भी मोटा कर्म-सिद्धान्त किसी ने नहीं समझा तो उसने कर्म-सिद्धांत की अ, इ, उ, क, ख, ग आदि वर्णमाला भी नहीं जानी। ऐसी अवस्था

में उस व्यक्ति को गम्भीरता से आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि वह वास्तव में अध्यात्म-उपदेशक बन भी सकता है? ठीक आध्यात्मिक रुचि या आध्यात्मिक उपदेश तथा आध्यात्मिक विचार और आध्यात्मिक आचार, इतना साधारण-सा भी कर्म-बन्धन और कर्म-मोचन का सिद्धान्त जाने बिना नहीं हो सकता।

तदनुसार मांस-भक्षी बिल्ली, भेड़िया तथा घास तृण-भक्षी खरगोश, हिरण में एवं मछली में एवं मछली-भक्षक दूध सा सफेद बगुला और कापोती रंग वाले अन्न, कंकड़-भक्षी कबूतर के सत् असत् भाव में, जो स्वाभाविक अन्तर है उससे भी असंख्य गुणा अन्तर पापी, विषयभोगी, परिग्रहानन्दी, निर्दयी मनुष्य में और व्रती तपस्वी, दानी तथा दयालु मनुष्य के कर्म-बन्ध, कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा में है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय ग्रन्थ में लिखा है -

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवित मूर्च्छा।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥ 121॥

अर्थ - हरी घास चरने वाले हिरण के बच्चे में मूर्च्छा परिणाम (कषाय भाव) मन्द होता है और चूहों को मार कर खाने वाली बिल्ली में वही मूर्छा (कषाय) तीव्र होती है।

यदि यथार्थ में श्री पं. वंशीधर जी ने कहानपंथी साहित्य का समर्थन करने से पहले पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय ग्रन्थ का अवलोकन किया था तो उन्होंने इस ग्रन्थ के 212-213 और 214 वें श्लोक का अध्ययन क्यों छोड़ दिया? क्या वे इन तीनों श्लोकों का साधारण रहस्य भी नहीं समझ पायें? या समझ-बूझ कर व्रत और अव्रत से समान कर्म-बन्धन होने की गलत बात लिखने के लिये विवश (लाचार) हुए?

पाठक महानुभाव श्री अमृतचन्द्र सूरि के उन आध्यात्मिक सारभूत अमृतमय श्लोकों का अवलोकन करें-

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 212॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 213॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 214॥

अर्थ-सम्यग्दृष्टि के जितने अंश में सम्यक्त्व होता है उतने अंश में कर्म-बंधन नहीं होता किन्तु जितने अंश में उसके राग-भाव है, उतने अंश में उसके कर्म बन्ध होता है ॥212॥

जितने अंश में सम्यग्ज्ञान होता है उतने अंश में कर्म-बंधन नहीं होता किन्तु जितने अंश में उसके रागभाव होता है उतने अंश में उसके कर्म-बन्धन होता है ॥213॥

जितने अंश में व्रती त्यागी तपस्वी के सम्यक्चारित्र होता है उतने अंश में उसके कर्म-बंध नहीं होता किन्तु जितने अंश में उसके राग भाव होता है, उतने अंश में उसके कर्म-बंध होता है।

इसका सीधा आध्यात्मिक तथा कर्म-सम्बन्धित अभिप्राय यह है कि व्रत तप संयम रूप चारित्र कर्म-बन्ध का कारण नहीं है, जैसे कि सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान कर्म-बन्ध का कारण नहीं है।

जैसे सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के होते हुए जो कर्म-बन्ध होता है, उसका कारण उसकी सहवर्ती रागभाव है, इसी तरह पाँचवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक जो चारित्र के रहते हुए भी कर्मबन्ध होता है, उसका कारण उस चारित्र का सहवर्ती रागभाव है।

इसी कारण दसवें गुणस्थान तक व्यक्तराग (चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थान में), तथा अव्यक्त राग (सातवें से 10 वें गुणस्थान तक) से सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र को सराग सम्यक्त्व, सराग ज्ञान और सराग चारित्र कहते हैं। बारहवें गुणस्थान से ही स्थिति अनुभाग रूप कर्म-बन्ध रुकता है, तब ही

वीतराग या निश्चय सम्यक्त्व, वीतराग ज्ञान (अपूर्ण) और वीतराग चारित्र होता है तथा तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान हो जाने से पूर्ण-वीतराग रत्नत्रय हो जाता है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है -

सद्दृष्टिज्ञानवृतानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ॥ 3 ॥

अर्थ-अर्हन्त तीर्थंकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप इसी ग्रन्थ में इस तरह बतलाया गया है -

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ 49॥
सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ॥ 50॥

अर्थ - हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवन और परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना चारित्र है। वह चारित्र दो तरह का है-सकल और विकल। पाँच पापों का पूर्ण त्यागरूप मुनियों का महाव्रती चारित्र है और पापों का एक देश त्यागरूप गृहस्थों का अणुव्रती चारित्र है।

इस तरह भावी तीर्थंकर, महान प्रभावक आचार्य श्री समन्तभद्र अणुव्रत और महाव्रत को आत्मा का धर्म बतलाते हैं।

द्रव्यसंग्रह में लिखा है -

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहापरीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ 35॥

अर्थ - व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म (क्षमा आदि 10), अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र ये सब भावसंवर हैं। यानी - इन व्रत समिति, चारित्र आदि से कर्मों का संवर होता है।

श्री स्वामी कार्तिकेय अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में लिखते हैं -

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव ॥ 95॥

अर्थ - सम्यक्त्व, देशव्रत (अणुव्रत), महाव्रत और कषायोंका जय और योगों का अभाव ये संवर हैं।

इसी तरह स्वामी कार्तिकेय स्पष्ट रूप से अणुव्रतों, महाव्रतों को कर्म-संवर का कारण कहते हैं।

'व्रतों द्वारा संवर भी होता है' इस पर प्रकाश डालते हुए श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट लिखते हैं -

'व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोति।' (अध्याय 7 सूत्र 1)

अर्थ - व्रत पालन करने वाला साधु सुख से (सुगमता से) संवर करता है।

धवल सिद्धान्त में लिखा है -

असंखेज्जगुणाए सेडिदेए कम्मणिज्जरहेदू वदं णाम। (पु.8, पृ.83)

अर्थ - व्रत असंख्यातगुणश्रेणी कर्म निर्जरा के कारण हैं।

जयधवल सिद्धान्त में लिखा है -

घडियजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं ॥60॥(पु. 1, पृ. 107)

अर्थ-घटी-यंत्र (अरहट) के जल के समान प्रतिसमय महाव्रती मुनियों के जब असंख्यातगुणी श्रेणी रूप कर्मों की निर्जरा होती है, तब उनके पाप कैसे संभव है?

इस तरह दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ व्रतों द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा होने का स्पष्ट समर्थन करते हैं।

इसी तरह कर्म-बन्धन काटने के लिए श्री कुन्दकुन्दआचार्य मोक्ष-पाहुड़ में स्पष्ट कहते हैं -

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तोवि ॥60॥

अर्थ-तीर्थंकर को यद्यपि आत्मसिद्धि यानी-मुक्ति उसी भय से होनी निश्चित है, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, जन्म से तीन ज्ञान धारक तथा

मुनिदीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यय-ज्ञानी भी हो जाते हैं, फिर भी कर्म-क्षय करने के लिए वे तपश्चरण अवश्य करते हैं, ऐसा जानकर आध्यात्मिक ज्ञानी को तपस्या अवश्य करनी चाहिये।

यानी-कर्म बन्धन काटने के लिए सम्यग्दृष्टि को व्रत, तप, संयम रूप चारित्र अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

कहानपंथ के साहित्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य की वाणी से सर्वथा उलटी बात कहता है कि ''व्रत, तप, संयम को कभी पालन न करो क्योंकि उससे कर्म-बन्ध होता है।''

महान ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र, भी **'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥9-2॥'** तथा **'तपसा निर्जरा च ॥ 9-3॥'** सूत्रों द्वारा चारित्र (जिसमें तप भी गर्भित है) से कर्मों का संवर और निर्जरा होना भी व्रत कहलाता है, तब कहानपंथ साहित्य इससे उलटी बात कहता है।

पं. वंशीधर जी बतलावें कि श्री कुन्दकुन्द, श्री उमास्वामि, श्री अमृतचन्द्र सूरि, सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आदि आचार्यों का विधान प्रामाणिक है या उसके विरुद्ध कहानपंथ साहित्य का विधान प्रामाणिक है?

यद्यपि इन आर्ष शास्त्रीय प्रमाणों के सम्मुख किसी अन्य प्रमाण का कुछ मूल्य नहीं है फिर भी पं. वंशीधर जी ने जो आधार दिये हैं, वे भी अप्रासंगिक हैं। देखिये -

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 232 का कथन अध्यवसान छुड़ाने की दृष्टि से है, कि किसी जीव की रक्षा करके या उस पर दया करके उसका अभिमान अपने हृदय में मत आने दो कि **'मैंने इसे बचाया'**। यहां पर व्रत, तप, संयम छुड़ाने का अभिप्राय नहीं है। श्री पं. टोडरमल जी ने गोम्मटसार की विशाल टीका की है, वे पाँचवें, छठे आदि गुणस्थानों में व्रत, तप, संयम द्वारा होने वाले कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा को अच्छी तरह जानते थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा 97 तथा 98 की टीका भी उन्होंने की है, वहाँ देखिये उन्होंने व्यवहार चारित्र-व्रत, तप, संयम वाले गुणस्थानों में कर्म-संवर होना

लिखा है। ऐसी दशा में श्री पं. टोडरमल जी व्रत तपादि द्वारा केवल कर्म-बन्ध होना नहीं लिख सकते। श्री पं. टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ 334 पर महाव्रती मुनियों के संवर होना बतलाया है, उसे भी देखिये। व्रत, तप, चारित्र के समय कर्मसंवर और कर्म-निर्जरा के होते हुए भी जो कर्म-बन्ध होता है, उसका कारण श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय ग्रन्थ के श्लोक 214 के अनुसार उन गुणस्थानों में विद्यमान राग अंश है। जबकि चारित्र में विरक्ति की प्रधानता है।

2. समयसार ग्रन्थ निश्चयनय की प्रधानता से लिखा गया है तथा उसके पुण्य पाप अधिकार का कथन, पुण्य, पाप कर्म-बन्धन की मुख्यता से है। तदनुसार श्री पं. राजमल जी कृत समयसार की टीका में केवल कर्म-बन्धन की दृष्टि से लिखा गया है क्योंकि दशवें गुणस्थान तक चारित्र के साथ रागभाव पाया जाता है, वह राग-भाव ही बन्ध का कारण है, चारित्र नहीं।

इस तरह वास्तव में ये आधार कहानपंथ साहित्य की गलती का समर्थन नहीं करते हैं।

चौथी वार्ता

छहढाला के अर्थ का अनर्थ

कहानपंथ के साहित्य को आगम-विरुद्ध बतलाने के लिये शास्त्री परिषद के प्रस्ताव में चौथी बात कहानपंथ से प्रकाशित छहढाला के प्रथम संस्करण में लिखी कुशास्त्र की परिभाषा है।

श्री पं. दौलतराम जी ने कुशास्त्र का प्रतिपादन छहढाला में निम्नलिखित किया है -

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पौषक अशप्रस्त।
कपिलादिरचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहु देनत्रास।।

इस पद्य का सरल सीधा अर्थ है कि ''जो ग्रन्थ एकान्तवाद से दूषित हैं और विषयभोगों की पुष्टि करने वाले हैं। उन कपिल आदि के बनाए हुए ग्रन्थों

का अभ्यास बहुत दु:खदायक मिथ्याज्ञान है।''

इसकी टीका में कहानपंथ के टीकाकार ने अपने पास से 6 संख्या वाले अनुच्छेद (पैराग्राफ) में जैन चरणानुयोग के ग्रन्थों पर प्रहार करते हुए अपने पास से लिखा है कि –

''दया, दान, महाव्रतादि के शुभ भाव से संसार परित (अल्प मर्यादित) होना बतलावे, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है, आदि जिनमें विपरीत कथन हो वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्वों की भूल है।''

पाठक महानुभाव देखें कि आत्मा को सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र द्वारा कर्ममल से शुद्ध करने के लिए सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के पश्चात् अणुव्रत, महाव्रत धारण करने का, समस्त जीवों पर दया करने का उपदेश दिया गया है। इसी के अनुसार अनादिकाल से अब तक तीर्थंकर तथा अन्य मुनिगण आचरण करके मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

तीर्थंकर पूर्वभव से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न होते हैं, लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव तथा अन्य एक भवावतारी देव भी सम्यक्त्व और ज्ञान-सम्पन्न होते हैं, उनके मुक्त होने में कमी केवल सम्यक्चारित्र की होती है, सो वह कमी वे मनुष्यभव में मुनिदीक्षा लेकर महाव्रत धारण करके अपना वैराग्य बढ़ाते हुए धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान द्वारा पूरी करके मुक्त होते हैं। आज तक एक भी मुक्तिगामी ऐसा नहीं हुआ जिसने महाव्रती चारित्र के बिना सिद्धि प्राप्त की हो।

परन्तु कहानपंथ के नेता अणुव्रती चारित्र भी शास्त्रानुसार नहीं आचरण करते। यदि वे अणुव्रत, महाव्रत का आचरण नहीं कर सकते, तो न करें किन्तु चारित्र के विधान का ऐसा विपर्यास तो न करें जिससे यह भ्रम जनता में फैले कि महाव्रत को धर्म कहने वाले चरणानुयोग के शास्त्र कुशास्त्र हैं।

जिस छहढाला ग्रन्थ की टीका में यह बात लिखी गई है, उसी छहढाला में अणुव्रतों तथा महाव्रतों को क्रम से मुक्ति का कारण बतलाया गया है। तथा

उसमें दया पालन का उपदेश है। इस प्रकार दया, महाव्रत, उपदेशात्मक भाषा समिति आदि चारित्र द्वारा अति निर्मल होता हुआ आत्मा जिस शुक्लध्यान के बल से मुक्त होता है, वह ध्यान भी उसी सामायिक चारित्र का महत्तम रूप है। इन समस्त विषयों का स्पष्ट निरूपण छहढाला में यथास्थान किया गया है। इसी कारण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्र को धर्म (चारित्त खलु धम्मो) कहा है, दया को धर्म (धम्मो दया-विसुद्धो) कहा है, संयम अणुव्रत, महाव्रत रूप (दुविहं सजमचरणं, सायारं तह अणायारं) कहा है, इस तरह कहानपंथ साहित्य के छहढाला-टीकाकार ने जिन बातों को कुशास्त्र का लक्षण बतलाया है, वे सब बातें छहढाला में तथा कुन्दकुन्द-साहित्य में एवं अन्य मूलाचार आदि ग्रन्थों में यथास्थान लिखी हुई हैं।

छहढाला के पहले दो ऐडीशनों की उक्त बात पर जब आक्षेप हुआ तो उस वाक्य में उन ही बातों को ज्यों का त्यों रखकर दिगम्बर समाज की आपत्ति से बचाने के लिए 'श्वेताम्बरादि ग्रन्थों में' इतना विशेषण छहढाला के तीसरे एडीशन में बढ़ा दिया है।

अब प्रश्न यहां पर यह है कि 'आदि' शब्द द्वारा कुशास्त्र की मर्यादा में वे सब दिगम्बर जैन ग्रन्थ आते हैं या नहीं जिनमें दया, महाव्रत को तथा धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय को धर्म माना गया है और उनसे संसार-स्थिति का छेद होना बतलाया गया है?

तथा च-स्वयं छहढाला की सुशास्त्र है या कुशास्त्र? यह भी बतलाया जावे क्योंकि छहढाला की पहली, चौथी और छठी ढाल में दया को धर्म बतलाया है, चौथी ढाल में अणुव्रतों द्वारा और छठी ढाल में महाव्रतों द्वारा संसार मर्यादित होना बतलाया गया है?

अन्य गलत बातें

छहढाला, तत्त्वार्थसार, पंचास्तिकाय (गाथा 160-161 की टीका) के अनुसार निश्चय रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहाररत्नत्रय या

मोक्षमार्ग उसका साधन है। साधन नियम से पहले होता है और साध्य उसके पश्चात् होता है। जैसे पहले आटा (साधनरूप) होता है और उसके पश्चात् साध्य रूप रोटी बनती है।

परन्तु कहानपंथ का साहित्य उल्टी बात कहता है। देखिए कहानपंथ से प्रकाशित छहढाला (दूसरा संस्करण)

''व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रगट होता है, ऐसा मानने वाले को नयों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है।'' पृष्ठ 53

''जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता।'' पृ. 57

इस तरह छहढाला के रचयिता जब तीसरी ढाल के पहले दूसरे पद्य में निश्चय मोक्षमार्ग का कारण व्यवहार मोक्षमार्ग को स्पष्ट लिख रहे हैं, तब कहानपंथ के टीकाकार मूल ग्रन्थकार के अभियान के विरुद्ध यानी-उससे उल्टा कहते हैं कि 'व्यवहार मोक्षमार्ग को पहले और उसके बाद निश्चय मोक्षमार्ग होना बतलाने वालों को यथार्थ ज्ञान नहीं है।' क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन पहले न हो, तो व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

इस तरह प्रकारान्तर से कहानपंथ के टीकाकार छहढाला के रचयिता को यथार्थ ज्ञानी नहीं मानते।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग को निम्नलिखित दो गाथाओं में बतलाया है-

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥ 160॥

अर्थ - धर्मादि द्रव्य, जीवादि तत्व, पदार्थ आदि का यथार्थं श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अंग और पूर्वों का बोध सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत महाव्रत तप आदि करना सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इसके विषय में टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं -

''निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते इति।''

अर्थ - यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन (कारण) बनता है।

अर्थात्-व्यवहार-रत्नत्रय रूप व्यवहार मोक्षमार्ग से निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। श्री जयसेनाचार्य ने भी इस गाथा की टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का साधन बतलाया है।

आगे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं -

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदोहु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥ 161॥

अर्थ - आत्मा जब इस पूर्ण रत्नत्रयमय होकर न कुछ करता है, न कुछ छोड़ता है, सो निश्चय नय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

इस गाथा की टीका के अन्त में फलित अर्थ के रूप में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं -

'अतो निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति।'

अर्थ-इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य साधन भाव अच्छी तरह घटित होता है। यानी-निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार के उपसंहार में लिखते हैं -

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्य रूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ 2॥

अर्थ - मोक्षमार्ग दो प्रकार का है, निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। उनमें से निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

इसी तरह अन्य ग्रन्थों में भी व्यवहार रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) को निश्चय-रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का कारण बतलाया है।

इस तरह आर्ष आगमों के विपरीत कहानपंथ साहित्य का छहढाला टीका ग्रन्थ पहले निश्चय-नय को और उसके बाद व्यवहार नय को होना बतला कर आगम के प्रतिकूल कथन करता है।

मोक्षमार्ग

कहानपंथ के छहढाला में पृष्ठ 55 पर निम्नलिखित आगम-प्रतिकूल बात मोक्षमार्ग प्रकाशक का उद्धरण देकर लिखी है -

''किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है-इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।''

जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थ में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने एवं श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि ने स्पष्ट रूप से दो प्रकार का मोक्षमार्ग बतलाया है। तब आर्ष आगम के प्रतिकूल तथा मूल ग्रन्थ छहढाला (सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण शिव-मग सो दुविधि विचारो) के प्रतिकूल दो प्रकार के मोक्षमार्ग का निषेध करना, उसे मिथ्या ठहराना कहानपंथ साहित्य का अनुचित विधान है।

इसी तरह छहढाला के पृष्ठ 144 पर कहानपंथ के टीकाकार लिखते हैं-

''व्यवहार रत्नत्रय वह धर्म नहीं है-ऐसा बतलाने के लिये यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है।''

यह बात भी छहढाला-कार ने अभिप्राय के विरुद्ध लिखी है। छहढाला की तीसरी चौथी पाँचवीं और छठी ढाल के पूर्व भाग में व्यवहार रत्नत्रय को धर्म मानकर ही श्री पं. दौलतराम जी ने इसे लिखा है फिर भी कहानपंथ के टीकाकार व्यवहार रत्नत्रय को धर्म ही नहीं मानते।

वैसे तो पाँचवी ढाल के 14वें पद्य के 'सारे' शब्द का अर्थ 'सब' है। फिर भी यदि टीकाकार उस शब्द का अर्थ 'साररूप' करते हैं तब भी उससे व्यवहार रत्नत्रय का निषेध प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र ये, मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के त्याग रूप होते हैं, उतने अंश

मोह और राग का अंश नहीं होता है। अतः व्यवहार रत्नत्रयः मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के निवृत्ति रूप होने से धर्म रूप है। उन्हें धर्म न मानना कहानपंथ साहित्य की छहढाला तथा आर्ष आगमों के प्रतिकूल कल्पित गलत मान्यता है।

छहढाला के रचयिता श्री पं. दौलतराम जी ने छहढाला का उपसंहार करते हुए छठी ढाल में इसे और भी स्पष्ट लिखा है -

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरेंगे ते शिव लहै तिन सुयश-जल जगमल हरै॥ 14॥

अर्थ - इस तरह जो भाग्यशाली निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय को धारण करते हैं तथा भविष्य में जो इन दोनों तरह के (निश्चय और व्यवहार) रत्नत्रय को धारण करेंगे, वे संसार से मुक्त होंगे। उनका स्वच्छ यशरूपी जल संसार का मैल दूर करता है।

इसकी टीका में कहानपंथ के टीकाकार लिखते हैं कि -

''गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है, वह व्यवहार रत्नत्रय का प्रमाण जानना तथा उस उपादेय न मानना उसका नाम व्यवहार-रत्नत्रय का धारण करता कहलाता है।''

शुभ राग को व्यवहार रत्नत्रय कहना गलत है। शुभ राग भिन्न औदायिक भाव है, और सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय आत्मा का औपशमिक, क्षायिक (सम्यक्त्व), क्षायोपशमिक भाव है। अतः व्यवहार रत्नत्रय को शुभ राग कहना गलत है।

ग्रन्थकार जब व्यवहार रत्नत्रय को भी धारण करने की अनुमोदना करता है, धारण करने वाले को बड़ा भाग्यशाली बतलाता है, तब टीकाकार उस व्यवहार रत्नत्रय को उपादेय नहीं बतलाता।

यदि व्यवहार रत्नत्रय उपादेय (ग्रहण करने योग्य) न होता, तो ग्रन्थकार तथा अन्य सभी आचार्य उसको प्राप्त करने के लिये क्यों प्रेरणा और क्यों उसका उपदेश करते? अर्हन्त भगवान की दिव्य ध्वनि, शास्त्र-रचना,

समवशरण तथा मन्दिर, प्रतिमा का निर्माण, प्रवचन आदि सब कुछ व्यवहार रत्नत्रय प्राप्त करने के लिये ही तो हैं। व्यवहार रत्नत्रय द्वारा ही तो शुक्ल-ध्यान रूप स्वरूपाचरण चारित्र या निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होता है। कहानपंथ के टीकाकार ने उस व्यवहार रत्नत्रय को उपादेय न बतलाकर ग्रन्थकार का अभिप्राय उलटा कर दिया है।

जबकि टीकाकार को मूलग्रन्थ के अभिप्राय का पोषण करना चाहिये।

क्या श्रावकव्रत, मुनिव्रत चारित्र नहीं हैं?

कहानपंथ संस्था से प्रकाशित छहढाला के पृष्ठ 120 पर लिखा है -

''निश्चय चारित्र ही सच्चा चारित्र है-ऐसी श्रद्धा करना, तथा उस भूमिका में जो श्रावक और मुनिव्रत के विकल्प उठते हैं, वह सच्चा चारित्र नहीं किन्तु चारित्र में होने वाला दोष है।''

यह बात भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत चारित्रपाहुड़, मोक्षपाहुड़, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों के तथा चरणानुयोग के ग्रन्थों के रचयिता श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि आचार्यों के एवं छहढाला के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

पं. दौलतराम जी चौथी ढाल में लिखते हैं-

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे।
एकदेश और सकलदेश तसु भेद कहीजे ॥ 14॥

अर्थ - सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र को बड़ी दृढ़ता से ग्रहण करो। उस चारित्र के दो भेद हैं, एकदेश चारित्र (श्रावक चारित्र) और सकल चारित्र (मुनिचारित्र)।

इसी भूमिका के अनुसार इसके आगे चौथी ढाल में श्रावक के 12 व्रतों का निरूपण किया गया है और छठी ढाल में मुनि-चारित्र का वर्णन किया गया है।

पापों का त्याग करके व्रत, तप, संयम को ग्रहण कर चारित्र आचरण करना भी यदि धर्म न हो, तो ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक एवं आचार्य, उपाध्याय सर्व-साधु परमेष्ठी चारित्रनिष्ठ न कहलायेंगे, सभी असंयमी ही रहेंगे।

णमोकार मंत्र में मुनिव्रती, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु को महान चारित्रनिष्ठ, पूज्य मानकर ही नमस्कार किया गया है।

चारित्र के दोष तो 'अतिचार' होते हैं जिनको त्याग करने का संकेत छहढालाकार ने चौथी ढाल के अन्तिम 14वें पद्य में किया है।

'बारह व्रत के अतीचार पन-पन न लगावे।'

अर्थ - बारह व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार दोषों को न लगाना चाहिये।

आत्म-शुद्धि के लिये व्यवहार चारित्र प्रधान साधन है, इसी व्यवहार चारित्र का फलित रूप निश्चय प्राप्ति होता है। जैसा कि छठी ढाल में बताया गया है।

अतः कहानपंथ के साहित्य की यह बात भी आगम-विरुद्ध है।

क्या तप से निर्जरा होती है?

छहढाला की छठी ढाल में लिखा है -

तप तपैं द्वादश धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवें सदा।
मुनि साथमें वा एक विचरैं, चहैं नहिं भवसुख कदा ॥ 7॥

अर्थ - महाव्रती मुनि बारह प्रकार के (6 अन्तरंग, 6 बहिरंग) तपों को तपते हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण करते हैं, अन्य मुनियों के साथ संघ में अथवा अकेले विचरण करते हैं। सांसारिक सुखों की कभी इच्छा नहीं करते।

इसकी टीका में कहानपंथ के टीकाकार लिखते हैं-

''अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण कहा है।''

ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञान-भण्डार कहानपंथ में ही विद्यमान है, इस कारण कहानपंथी और उनके अनुयायियों के सिवाय सभी अज्ञानी हैं?

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षपाहुड़ में लिखा है कि –

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदोवि करेइ तवयरणं।
णाउण धुवं कुज्जा तवयरणं णाण-जुत्तोवि ॥60॥

अर्थात् – तीर्थंकर को उसीभव से मुक्ति मिलना निश्चित होता है तथा वे तीर्थंकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि एवं मुनि-दीक्षा लेते ही चार ज्ञानधारी होते हैं फिर भी तप करते हैं, ऐसा जानकर ज्ञानवान पुरुष को तप अवश्य करना चाहिये।

श्री उमास्वामि आचार्य तत्त्वार्थसूत्र में नौवें अध्याय में कहते हैं –

तपसा निर्जरा च ॥3॥

अर्थ – तप करने से संवर तथा निर्जरा होती है।

आचार्य समन्तभद्र स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान कुन्थुनाथ की स्तुति करते हुए लिखते हैं–

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।

अर्थ – हे भगवन्! आपने परम कठोर बहिरंग तपश्चरण को अन्तरंग तप की वृद्धि के लिए किया।

भगवान आदिनाथ ने एक वर्ष का लगातार उपवास किया (छह माह योगधारण एवं छह माह अन्तराय की अपेक्षा) तथा एक हजार वर्ष तक कठोर तप करते रहे। समस्त मुक्तिगामी जीव अनशन, कायोत्सर्ग आदि बहिरंग और स्वाध्याय ध्यान आदि अन्तरंग तप करके मुक्त हुए हैं। श्री कुन्दकुन्द आदि सभी मुनि तपश्चरण करते रहे। तो क्या यह सब अज्ञान की बात है?

कहानपंथ के टीकाकार छहढाला के पृष्ठ 166 पर अन्तरंग तपों के विषय में एक भूल का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि –

''अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यान रूप क्रियायें बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य क्रिया है उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इस लिये

प्रायश्चित्त आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं हैं।''

श्री कुन्दकुन्द आचार्य आदि समस्त ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान को अन्तरंग तप बतलाया है, तब कहानपंथ के टीकाकार अपने कुतर्क से इन अन्तरंग तपों को बाह्य तप बतला रहे हैं।

इस प्रकार अन्य भी अनेक आगम-विरुद्ध बातें कहानपंथ के टीकाकार ने छहढाला के अर्थ का अनर्थ करके लिखी हैं। इसी अनर्थ द्वारा कहानपंथ के प्रकाशित छहढाला ने आगम-विरुद्ध आध्यात्मिक विष फैलाने की चेष्टा की है।

मूल ग्रन्थों के अर्थ तथा आशय के विरुद्ध ऐसा ही अर्थ का अनर्थ द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों की टीका में कहानपंथ के टीकाकारों ने किया है। स्थानाभाव के कारण उन उद्धरणों को यहाँ नहीं दे रहे हैं।

आधार

कुशास्त्र की व्याख्या को प्रमाणित करने के लिए लेखक ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के दो उद्धारण दिये हैं। पहला तो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 232 का है। उसके विषय में कहानपंथ से स्पष्ट घोषणा होनी चाहिए कि–

''छहढाला में तथा चारित्र-पाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, मूलाचार आदि सभी दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों में जो अणुव्रत, महाव्रत, दया, दान आदि को धर्म माना गया है और उनको मुक्ति का परम्परा कारण माना गया है, वह विधान प्रमाणिक है, यथार्थ है। वे ग्रन्थ कुशास्त्र नहीं हैं।''

ऐसी घोषणा हुए बिना श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का नाममात्र उल्लेख केवल एक बहाना है।

दूसरा आधार भी यहाँ इस कारण लागू नहीं होता कि –

श्री पं. टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ 336-337 का कथन मिथ्यादृष्टि जैन की अपेक्षा से किया है। दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत

को चारित्र धर्म-रूप तथा संसार के नाश का कारण बतलाने वाले श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि ग्रन्थकार ऋषि मुनि एवं छहढालाकार श्री पं. दौलतराम जी मिथ्यादृष्टि नहीं थे। उनके विधान की अवहेलना करना, जिनवाणी में तथा महान गुरुओं में अश्रद्धा का द्योतक स्पष्ट चिन्ह है। कहानपंथ के साहित्यकारों को अपने सम्यक्त्व को प्रमाणित करने के लिये दिगम्बरीय आर्ष ग्रन्थों में एवं दिगम्बर ग्रन्थकार आचार्यों में उनका विधान सत्य मानकर अपनी आस्था व्यक्त करनी चाहिये।

दया से धर्म तथा मोक्ष होता है ऐसा कथन प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थों में है। श्री 108 कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड़ गाथा 25 में ''धम्मो दयाविसुद्धो'' भाव पाहुड़ गाथा 133 में ''छज्जीव कुरु दया'' तथा शील पाहुड़ गाथा 19 में ''जीव दया सीलस्स परिवारो'' कह जीव दया को धर्म कहा है तो क्या कहानपंथ सिद्धान्त अनुसार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कुशास्त्रों की रचना की है?

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्र चक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥8।57॥

अर्थ - इस लोक में जीवरक्षा के अनुराग से मनुष्य समस्त-कल्याण रूप पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है। तीर्थंकर देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि ऐसा कोई भी पद नहीं है जो दयावान नहीं पाता।

दइदूण सव्वजीवे दमिदूण य इंदियाणि तह पंच।
अठ्ठविह कम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाथ ॥11।238॥

(श्री कुंदकुंद आचार्य का मूलाचार)

अर्थ - श्री कुन्दकुन्द आचार्य मूलाचार ग्रन्थ में कहते हैं कि सर्व जीवों पर दया करके तथा पाँच इन्द्रियों का नियंत्रण करके आठ कर्मों से रहित मोक्ष को जाओ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य दान का फल मोक्ष बतलाते हैं -

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिदि्दट्ठं जिणवरिदेहिं ॥16॥

(रयणसार)

अर्थात् - जो सुपात्र को दान देता है वह क्रमशः भोग-भूमिके, स्वर्ग और मोक्ष सुख को प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

क्या-कहानपंथ के सिद्धान्तानुसार यह कुशास्त्र है?

''दानतो सातप्राप्तिश्च स्वर्गमोक्षैककारणम्।''

(पद्मपुराण 123/108)

अर्थात्-दान से सुख की प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

अणुव्रत तथा महाव्रत से मोक्ष की प्राप्ति-

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाध्यन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ।18।1।

(ज्ञानार्णव)

अर्थ - पाँच महाव्रतों को महापुरुषों ने आचरण किया है तथा महान पदार्थ अर्थात् मोक्ष को वे साधते हैं तथा स्वयं भी बड़े हैं (निर्दोष हैं) इस कारण इनका नाम महाव्रत है।

''भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः।''

(पद्म. पंच. 4/26)

अर्थात्-भव्य जीवों को अणुव्रत अथवा महाव्रतों के द्वारा मोक्ष साधना चाहिये।

अणुधर्मोऽग्रधर्मश्च श्रेयसः पदवी द्वयी।
पारम्पर्येण तत्राद्या परा साक्षात्प्रकीर्तिता ॥85/18॥

(पद्मपुराण)

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि अणुव्रत और महाव्रत दोनों मोक्ष के मार्ग हैं। इसमें अणुव्रत तो परम्परा से मोक्ष का कारण है और महाव्रत

साक्षात् मोक्ष का कारण है।

सोनगढ़ सिद्धान्त अनुसार क्या ये सभी दिगम्बर जैन आर्ष ग्रन्थ कुशास्त्र हैं क्योंकि उनमें दया, दान, व्रत को धर्म कहा है और उनका फल बतलाया है?

पाँचवीं वार्ता

क्या पुण्य विष्ठा के समान है?

शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव में कहानपंथ साहित्य की पांचवीं अनुचित बात निम्नलिखित है–

''ज्ञानियों ने पुण्य को विष्ठा समझकर छोड़ दिया है, अज्ञानी उस विष्ठा को खा रहा है।''

ऐसा अभिप्राय श्री कहान भाई ने समयसार प्रवचन में अनेक स्थानों पर प्रगट किया है।

इस विषय में मुख्य बात यह है कि –

जब श्री कहान भाई पुण्य को विष्ठा समझते हैं, तो वे स्वयं तथा उनके अनुयायी उस पुण्य रूपी विष्ठा को छोड़ क्यों नहीं देते, उस पुण्य का उपभोग बड़ी रुचि के साथ क्यों कर रहे हैं? अन्य जीव तो अज्ञानी हैं, वे पुण्य का उपभोग करें तो करें किन्तु श्री कहान भाई तथा उनके सभी अनुयायी तो महान ज्ञानी हैं, उन्हें तो अपने वचन के अनुसार इस पुण्य रूपी विष्ठा का उपभोग तत्काल छोड़ देना चाहिये था, जिससे जनता के सामने एक अच्छा आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित होता।

भूतकाल में जिस-जिस आध्यात्मिक ज्ञानी ने पुण्य विष्ठा का परित्याग किया, वैसे एक भी व्यक्ति का नाम आज तक न तो श्री कहान भाई ने बतलाया, और न पं. वंशीधर जी ने अपने इस ट्रेक्ट में लिखा। अस्तु! उन पुरातन ज्ञानियों में से किसी का भी नाम ज्ञात नहीं, तो चलो यह भूतकाल की कल्पित बात ही सही किन्तु वर्तमान में तो ऐसे 10-5 पुण्य-विष्ठा के त्यागी ज्ञानी सामने आने चाहिये।

पुण्य सामग्री

मनुष्य भव, सुन्दर शरीर, नीरोगता,उच्च कुल में जन्म, आवश्यक शोभाप्रद वस्त्र आभूषण का मिलना, उनका पहनना-ओढ़ना, आवश्यक रुचिकर एवं शरीर-पोषक, रसना-प्रिय भोजन पान का प्राप्त होना, सुयश, विहार करने के वाहन (मोटर आदि) तथा अन्य आवश्यक पदार्थ पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य को प्राप्त होते हैं। जब श्री कहान भाई के कथन-अनुसार यह सब पुण्य विष्ठा समान त्याज्य है तब इस समस्त पुण्य सामग्री का परित्याग उन्हें तथा उनके अनुयायियों को तत्काल कर देना चाहिये, जिससे उनका कथन क्रियात्मक रूप से (प्रैक्टीकल) सत्य प्रमाणित हो।

सम्यक्त्व

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होने का बहिरंग निमित्त कारण, नियमसार की, **''सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा'' आदि 53वीं गाथा में जिनवाणी तथा जिनवाणी के जानकार आचार्य बतलाये हैं।** तदनुसार सम्यग्दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जिसको जिनवाणी पर श्रद्धा हो।

जिनवाणी का गणनीय ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्द आचार्य-रचित **प्रवचनसार भी है, उस ग्रन्थ की 45वीं गाथा में लिखा है–**

पुण्णफला अरहन्ता, तेसिं किरिया पुणोहि ओदइया।

अर्थ - पुण्य कर्म के परिपक्व फल से अर्हन्त तीर्थंकर होते हैं। दिव्यध्वनि आदि उनकी क्रिया पुण्य फल के उदय से होती है।

इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं –

'अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्व पुण्यकल्पपादफला एव भवन्ति'।

अर्थ - अर्हन्त भगवान समस्त अच्छी तरह पके हुए पुण्य-रूपी कल्पवृक्ष के फल स्वरूप ही होते हैं।

श्री कहान भाई को तथा उनके अनुयायियों को यदि जिनवाणी पर सच्ची श्रद्धा होती, तो इस कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र सूरि की वाणी पर उन्हें अटल विश्वास करके पुण्य को विष्ठा समान त्याज्य कदापि न कहना चाहिये था। क्योंकि अर्हन्त पद तो परमात्मा का पद है और पुण्य का परिपक्व फल है।

श्री देवसेनाचार्य भाव-संग्रह में स्पष्ट लिखते हैं -

सम्माइट्ठीपुण्णं ण होह संसारकारणं णियमा।

मोक्खस्स होइ हेऊ जइवि णियाणं ण सो कुणई ॥401॥

अर्थ - सम्सग्दृष्टि का पुण्य संसार-भ्रमण का कारण नहीं होता। सम्यग्दृष्टी जीव यदि निदान न करे तो उसका पुण्य नियम से मोक्ष का कारण होता है।

श्री आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने भी पुण्य का फल समस्त जगत का साम्राज्य प्राप्त करना (त्रिलोक-वन्दनीय होना) बतलाया है।

'सर्वातिशापि पुण्यं, तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्।'

अर्थ - सब से अधिक अतिशयरूप पुण्य त्रिलोकीनाथ बनाने वाला है।

इस तरह जिनवाणी में सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य का इतना भारी महत्व बतलाया है, उस पुण्य को विष्ठा के समान त्याज्य कहना (किन्तु उसका स्वयं त्याग न करना) जिनवाणी की श्रद्धा के विपरीत बात है।

कर्म

आत्मा का शत्रु पौद्गलिक 'द्रव्यकर्म' (ज्ञानावरण आदि) तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसका अपना अन्तरङ्ग शत्रु 'भावकर्म' (राग, द्वेष, मोह आदि विकृत भाव) भी है। 'चोर चोर मौसेरे भाई' कहावत के अनुसार 'द्रव्य कर्म' और 'भाव कर्म' एक दूसरे के सहायक निमित्त है। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म बनता है या बन्धता है तथा द्रव्य कर्म के निमित्त से भावकर्म होता है। आत्मा का राग द्वेष आदि विकृत भावरूप 'भावकर्म' ऐसा नहीं है जो द्रव्यकर्म के निमित्त के बिना (ज्ञानावरण मोहनीय आदि के उदय के बिना) होता हो। इस तरह द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म बनने की

परम्परा संसारी आत्मा के सदा से (अनादिकाल से) चली आ रही है।

पाप रूप द्रव्यकर्म

आठ द्रव्यकर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं। ये आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य नामक अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, अतः ये चारों कर्म पापरूप या अशुभ माने गये हैं।

घाती कर्मों के सिवाय चार अघाती कर्मों में भी असाता वेदनीय, नरक आयु, नीच गोत्र और नाम कर्म की नरकगति तिर्यञ्चगति आदि प्रकृतियां भी पाप कर्म रूप हैं। इस तरह आठों कर्मों में पापरूप प्रकृतियाँ अशुभ प्रकृतियाँ हैं। इन पाप प्रकृतियों के उदय से न तो सांसारिक सुख साता मिलती है, न मुक्तिमार्ग का सहायक साधन प्राप्त होता है।

पुण्य द्रव्य कर्म

पूर्वोक्त पाप प्रकृतियों (कर्मों) के सिवाय क्षेत्र 68 प्रकृतियाँ 'पुण्य कर्म' रूप है, साता वेदनीय, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आयु (तिर्यञ्च जीव मरना नहीं चाहता, अतः तिर्यञ्च आयु भी शुभ मानी गई है), उच्च गोत्र (मुनि दीक्षा करने योग्य कुल) तथा कर्म की 63 प्रकृतियाँ- मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, निर्माण, 5 शरीर, 5 बंधन, 5 संघात, 3 अंगोपांग, 5 वर्ण, 5 रस, 2 गन्ध, 8 स्पर्श, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर।

इन पुण्य प्रकृतियों के उदय होने पर सांसारिक सुख-सुविधा आत्मा को मिला करती है तथा मुक्ति-साधना के लिये योग्यता प्रकट होती है। जैसे मनुष्य भव, वज्रऋषभनाराच संहनन, तीर्थंकर आदि का उदय होने पर मुक्ति के साधन सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र प्राप्त करना सुलभ होता है।

जैसे कंटे द्वारा पैर में चुभा हुआ कांटा निकलता है, उसी तरह संसार-भ्रमण के कारण भूत आठों कर्मों का क्षय भी मनुष्य आयु, उच्चगोत्र, तीर्थंकर आदि पुण्य कर्मों के समागम से होता है। मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य आयु, उच्च गोत्र, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि कर्मों के उदय होने पर ही संभव है। यदि इन पुण्य कर्मों का उदय न हो तो त्रिकाल में भी मुक्ति मिलना असंभव है।

मनुष्य आयु आदि के मिलने पर भी मुक्ति न हो, यह अन्य बात है परन्तु यदि मुक्ति मिलेगी तो मनुष्य की आयु, उच्च गोत्र, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि कर्म-उदय होने पर ही मिलेगी। तीर्थंकर प्रकृति के उदय से तो नियम से मुक्ति मिलती ही है।

इस तरह पुण्य द्रव्यकर्म सांसारिक सुख शांति का कारण तो है ही किन्तु इसके साथ ही भव्य जीव के लिये मुक्ति का भी अविनाभावी कारण है।

पाप-भावकर्म

आत्मा के तीव्र कषाय के उदय से मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, काम वासना, हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात, धोखा, अन्याय, अनीति, आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि के परिणाम पापमय भावकर्म हैं। इन भावकर्मों से अशुभ द्रव्यकर्मों का आस्रव-बंध हुआ करता है।

पुण्य-भावकर्म

जो आत्मा को पवित्र करे सो पुण्य कर्म है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय के अनुदय होने पर तथा सरागसम्यक्त्व सराग चारित्र के दया, दान करने, वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं जिनवाणी की भक्ति पूजा, अहिंसा आदि 5 व्रत, ईर्या आदि 5 समिति, 3 गुप्ति, उत्तम क्षमा मार्दव आदि दस धर्म, धर्मध्यान आदिक रूप शुभ भाव होते हैं, वे पुण्य भाव हैं।

इन पुण्य भावों से सांसारिक सुख तो मिलते ही हैं किन्तु इसके साथ ही ये पुण्य भाव शुक्लध्यान के साक्षात् तथा परम्परा कारण हैं। शुक्ल ध्यान की

पूर्ववर्ती पर्याय-धर्मध्यान पुण्य रूप ही है इसलिए तो पुण्यभाव शुक्लध्यान का साक्षात् कारण है।

अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान का साक्षात् कारण अणुव्रत, महाव्रत वाला पांचवाँ छठा गुणस्थान है, अतः पुण्य भाव शुक्लध्यान का परम्परा कारण है। दशवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान भी पुण्य भाव है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पुण्णफला अरहंता' वाक्य द्वारा अर्हन्त पद की प्राप्ति पुण्य का सर्वश्रेष्ठ फल बतलाया है।

इस तरह 'पुण्य' का अभिप्राय उक्त तीन अर्थों में लिया जाता है। इसको प्रकारान्तर से साधन, साध्य और फल; या कारण, कार्य और फल भी कह सकते हैं।

जिस तरह बहुत मैले वस्त्र को निर्मल करने के लिए उस कपड़े पर साबुन लगाया जाता है और उसे पानी से धोया जाता है तो कपड़े का मैल धीरे-धीरे दूर होता जाता है और वह वस्त्र स्वच्छ होता जाता है। इसी प्रकार कर्ममैल से मैला आत्मा जब अपनी स्वच्छ मानसिक वाचनिक और शारीरिक क्रिया से आत्मा का अशुभ मैल धोने लगता है तो आत्मा से अशुभ कर्म मल छूटने लगता है जिससे आत्मा का पाप मल भार हलका होने लगता है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर सबसे बड़ा पाप मिथ्याश्रद्धान या मिथ्यात्व मैल आत्मा से दूर हो जाता है। उस मिथ्यात्व द्वार से प्रवेश करने वाला कर्म-मल का आना बन्द हो जाता है। अतएव मिथ्यात्व, नरक आयु आदि 41 प्रकृतियों का संवर (आस्रव-निरोध) हो जाता है, किन्तु प्रशस्त राग के कारण मोक्ष के साधन भूत पुण्य का बन्ध भी होता है। इस तरह आत्मा मुक्तिमार्ग पर चल पड़ता है।

जब वह जीव अणुव्रती चारित्र ग्रहण करता है तो मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु आदि पूर्वोक्त 41 कर्मों (प्रकृतियों) के सिवाय अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माय, लोभ, मनुष्य आयु आदि दश कर्म प्रकृतियों का और (यानी 51 प्रकृतियों का) संवर हो

जाता है (51 प्रकृतियों का आस्रव, बन्ध नहीं होता)।

पहले से भी असंख्यात गुणी निर्जरा प्रतिसमय होती है, प्रशस्त रागभाव से पहले की अपेक्षा वहाँ कर्म बंध भी होता है। यह पाँचवाँ गुणस्थान होता है।

इससे भी ऊपर जब मुनि-दीक्षा लेकर महाव्रती चारित्र आचरण किया जाता है तब पूर्वोक्त 51 कर्म प्रकृतियों के सिवाय प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन कर्म प्रकृतियों का (यानी 55 प्रकृतियों का) संवर हो जाता है और पाँचवें गुणस्थान से भी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होने लगती है। यह छठे गुणस्थान की वार्ता है।

मुनि जब धर्मध्यान में निमग्न सातवें गुणस्थान में होते हैं तब उनके पूर्वोक्त 55 कर्म प्रकृतियों के सिवाय असाता वेदनीय आदि छह कर्म प्रकृतियों का और (61 प्रकृतियों का) संवर होता है, यानी 61 प्रकृतियों का आस्रवबन्ध नहीं होता। तथा छठे गुणस्थान से भी असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा प्रतिसमय होने लगतीहै। इस तरह शुक्लध्यान से पहले शुभोपयोग से कर्मसंवर, निर्जरा होती है।

इससे आगे आठवां गुणस्थान होता है तब सातवें से भी अधिक कर्मों का संवर और निर्जरा होती है।

इसी तरह नौवें और दशवें गुणस्थान में शुक्लध्यानावस्था में क्रम से उत्तरोत्तर अधिक कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा होती है।

मोहनीय कर्म का उदय दशवें गुणस्थान तक रहता है, अतः पुण्य-भाव भी दशवें गुणस्थान तक होता है। यहीं तक सराग चारित्र होता है। छठे गुण-स्थान तक व्यक्त राग-भाव होता है अतः उसको प्रमत्त विरत गुणस्थान कहा जाता है। फिर सातवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक अव्यक्त राग-भाव रहता है। अतएव दशवें गुणस्थान तक का सम्यक्त्व 'सराग सम्यक्त्व' होता है, इससे ऊपर मोहनीय कर्म का उदय न रहने से वीतराग सम्यक्त्व तथा वीतराग चारित्र प्रसिद्ध नाम यथाख्यात

चारित्र रहता है।

इस तरह दशवें गुणस्थान तक भाव पुण्यकर्म का उदय रहता है। इससे ऊपर 11वें, 12वें, 13 वें गुणस्थान में पुण्यकर्म का (मनुष्य आयु, औदारिक शरीर, वज्रवृषभनाराच संहनन, साता वेदनीय आदि का) उदय रहता है तथा पुण्यकर्म (एक समय स्थिति वाले साता वेदनीय) का बन्ध भी होता है।

चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक मनुष्य आयु आदि पुण्य कर्मों का उदय रहता है, परन्तु पुण्य कर्म का आस्रव या बन्ध नहीं होता।

यह पुण्य भाव, पुण्य द्रव्य कर्मफल का संक्षेप से विवरण है।

भाव संग्रह में लिखा है कि -

लद्धं जह चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं ॥423॥
तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥424॥

अर्थ-यदि यह जीव अपने चिरकाल के संचित किये हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नामक शुद्ध चारित्र को धारण करके तथा केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। अतः सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है। यह समझकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

उपसंहार

सम्यग्दृष्टि प्राणी का पुण्यभाव साक्षात् (10 वें गुणस्थान की अपेक्षा) शुद्ध उपयोग का उपादान कारण है। तथा शुक्लध्यान का भी साक्षात् उपादान कारण है। यह पुण्यभाव सम्यग्दृष्टि जीव के चौथे से दशवें गुणस्थान तक अनेक प्रकृतियों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ संवर करता जाता है, गुणस्थान-क्रम से तथा भाव-क्रम से प्रतिसमय पूर्व भूमिका की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा भी करता जाता है। एवं उसके साथ ही कषायभाव के

संसर्ग से पहले से घटता हुआ कर्म–बन्ध भी करता जाता है।

अतएव पुण्यभाव मोक्ष का कारण है, इसी कारण प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीव को वह आत्म कल्याण का साधक है। अतः वह अपनी–अपनी भूमिका के अनुसार पुण्य भाव प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को उपादेय है।

सीढ़ियों पर चढ़ते समय पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी आदि नीचे–नीचे की सीढ़ियाँ स्वयं छूटती चली जाती हैं, इसी प्रकार से पुण्यभाव में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए भावों की श्रेणी में क्रम से अविरति, अणुव्रत (संयतासंयत) भाव छूटते जाते हैं। आत्मध्यान की दशा में मुनि के आहार, विहार, उपदेश, शास्त्र–निर्माण आदि बाह्य क्रिया न रहने से प्रवृत्ति रूप महाव्रत तथा समिति उतने समय के लिए नहीं होती। आठवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि को अन्तर्मुहूर्त्त पीछे प्रवृत्ति रूप महाव्रत, समिति आदि का पुनः आचरण करना पड़ता है। क्षपकश्रेणी के शुक्लध्यानी मुनि का प्रवृत्ति रूप चारित्र सदा के लिए छूट जाता है, परन्तु संयम (सामायिक, छेदोपस्थापना नौवें गुणस्थान तक और सूक्ष्म साम्पराय) दशवें गुणस्थान तक रहता है। तदनन्तर वीतराग संयम (यथाख्यात चारित्र) हो जाता है। जो कि सदा (अनन्त काल तक) बना रहता है, क्षायिक भाव होने के कारण वह कभी नष्ट नहीं होता।

पुण्यकर्म का बंध 13 वें गुणस्थान तक केवली के भी होता है और पुण्यकर्म का उदय सभी गुणस्थानों (14 वें गुणस्थान में भी) में होता है। अन्त में नष्ट होता है।

पुण्य का उदय न हो तो

यदि पुण्यकर्म का उदय न हो तो विवेकशील और धर्माचरण, धर्मध्यान, शुक्लध्यान करने में समर्थ मनुष्यभव, स्वस्थ शरीर, वज्रवृषभनाराच संहनन, जैनधर्म का समागम, भगवान के दर्शन करने योग्य नेत्र, जिनवाणी सुनने योग्य कान, मन्दिर तथा तीर्थयात्रा करने योग्य पैर, शुभ करने योग्य हाथ, धर्म प्रवचन करने योग्य रसना (जीभ) कहाँ से मिलती?

पुण्य कर्म का उदय न हो तो नीचगोत्र, दीन, भिखरी, दरिद्री, रोगी, घृणित, पतित, अपमानित परिस्थिति, म्लेच्छ खंड मिले। उस दशा में मनुष्य होकर भी धर्म साधन की सुविधा न मिले, समस्त जीवन भीख माँगने में, आर्त्त, रौद्र परिणामों में ही व्यतीत होवे।

भोग–उपभोग

सदाचार की उपेक्षा करके, धर्मभावना का परित्याग करके जो मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्या–सेवन, परस्त्री–गमन आदि कुकृत्य किये जाते हैं, वह पुण्यकार्य नहीं है, वह तो नरक में ले जाने वाला पाप कार्य है। उसको पुण्यकार्य किसी ने नहीं माना।

वज्रनाभि चक्रवर्ती के समान –

बीज राखि फल भोगवै, ज्यों किसान जगमांहि।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारे नाहिं।।

के अनुसार पुण्यकर्म का भोग उपभोग आत्मा का अभ्युदय करने वाला है, आत्मा का पतन करने वाला नहीं है।

पुण्याचरण न हो तो

श्रावकों के लिए आचरण करने योग्य दो ही भाव हैं – 1. शुभ और 2. अशुभ। यानी पुण्य और पाप। इन दोनों में से यदि पुण्य आचरण को विष्ठा–समान समझकर त्याग दिया जावे तो शेष पापाचरण ही रहेगा। तो क्या पाप का आचरण किया जावे?

यह एक मुख्य प्रश्न पुण्य को विष्ठा मानने, कहने, लिखने वालों के सामने हैं।

शास्त्रीय प्रमाण

श्री पूज्यपाद आचार्य ने ''पुण्य'' शब्द का अर्थ निम्न प्रकार बतलाया है –

''पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद्वेद्यादि।''

अर्थ – जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है

वह पुण्य है, जैसे साता वेदनीयादि।

पुण्ण पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्द खेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥1-8॥ (ति.प.)

अर्थ-पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य और मंगल ये सब समानार्थक शब्द कहे गये हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी शुभ रूप पुण्य से मोक्ष की प्राप्ति होना बतलाई है।

जिणचरचरणांबुरुह णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥153॥
(भाव पाहुड)

अर्थ-जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करके जिनवर के चरण कमलों को नमते हैं वे श्रेष्ठ भाव रूप शास्त्र द्वारा संसार की जड़ को छेदते हैं।

श्री 108 कुन्दकुन्द आचार्य ने भाव पाहुड़ की गाथा 76 में **'सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं'** धर्म ध्यान को शुभ भाव बतलाया है।

श्री 108 वीरसेन आचार्य ने धवल पु. 13 पृ. 82 परलिखा है -

'मोहणीयविणासो पुण धम्म-ज्झाणफलं।'

यानी-मोहनीय कर्म का विनाश धर्मध्यान का फल है।

श्री 108 उमास्वामी आचार्य ने भी **'परे मोक्षहेतू'** सूत्र द्वारा धर्म ध्यान को मोक्ष का कारण कहा है।

श्री 108 वीरसेन आचार्य ने जयधवल पु. 1 पृ. 6 पर पुण्य रूप शुभ परिणाम से संवर निर्जरा होना बतलाया है।

'सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।'

अर्थ - यदि शुभ या शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

'मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्र-विशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।'

अर्थ-मोक्ष की प्राप्ति परम पुण्य और चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा ही

संभव है।

अर्थात् मात्र चारित्र रूप पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त नहीं होता किन्तु मनुष्य गति, उत्तम संहनन उच्चगोत्र आदि विशिष्ट पुण्य कर्म की सहकारिता की भी उसमें आवश्यकता है।

श्री जिनसेन आचार्य ने महापुराण सर्ग 30 श्लोक 128 में लिखा है-

''पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।''

इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि पुण्य से तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष लक्ष्मी पुण्य से मिलती है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने प. पर्व 6 श्लोक 58 में लिखा है कि-

''कुर्वते तत् परमं पुण्यं हेतुर्यत् स्वर्गमोक्षयोः।''

यानी- भव्य जीव उस पुण्य को करते हैं जो स्वर्ग और मोक्ष का कारण है।

पंचास्तिकाय (श्री महावीर जी से प्रकाशित) गाथा 85 की टीका में पृष्ठ 235 पर श्री जयसेन आचार्य लिखते हैं-

यथा रागादिदोवरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति, तथा निदान-रहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकर-प्रकृत्युत्तमसहननादि-विशिष्टपुण्य-धर्मोपि सहकारिकारणं भवति।

अर्थ- जैसे राग आदि दोष रहित, शुद्ध आत्मा की अनुभूति-सहित निश्चय धर्म यद्यपि भव्यों की सिद्धगति का उपादान कारण होता है, तथा निदान-रहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि से विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्धगति का सहकारी (निमित्त) कारण होता है।

श्री पं. वंशीधर जी को पुण्य का मर्म, सिद्धान्त ग्रन्थों से कर्मों का आस्रव, बन्ध, उदय, सत्ता तथा संवर, निर्जरा एवं गुणस्थानानुसार शुभ, शुद्ध भावों का अध्ययन करके, अवगत करना चाहिये।

वैसे तो पुण्य सदा उपादेय रहा है, किन्तु इस युग में जब कि श्रावकों

के लिए शुद्ध उपयोग असंभव है, तब तो पुण्य और भी अधिक ग्राह्य है। स्मरण रहे कि सराग-सम्यक्त्व और सराग-संयम भी पुण्य रूप है, शुभ भाव है।

ट्रैक्ट का नोट

सोनगढ़ के ट्रैक्ट के पृष्ठ 18 पर नोट देकर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि-

''कहान भाई ने समयसार प्रवचन में पुण्य भाव-शुभ भाव को विष्ठा नहीं कहा किन्तु पुण्य के उदय से प्राप्त नोकर्म पुद्‌गल द्रव्य, भोग ''उपभोग रूप सामग्री को विष्ठा कहा है।''

इस विषय में हमारा यह कहना है कि कहान भाई के प्रवचन में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिससे लेखक के उक्त नोट का समर्थन होता हो, यह अधिकृत घोषणा तो कहान भाई की ओर से होनी चाहिए।

दूसरे- यदि उन्होंने पुण्य कर्म-उदय से प्राप्त नोकर्म पुद्‌गल और भोग उपभोग सामग्री को ही विष्ठा की उपमा देकर त्याज्य बतलाया है तो वह सामग्री तो अन्य साधारण व्यक्तियों के समान उनको भी प्राप्त हुई है, फिर कम से कम उनको तो उस सामग्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे कथनी और करनी में एक-रसता आवे। क्या वे पुण्य के उदय से प्राप्त अपने सुन्दर मानव शरीर का, उच्च कुल का, यशःकीर्ति का, अपनी भोग उपभोग-सामग्री का त्याग कर सकते हैं? (नहीं कर सकते।) अतः लेखक का यह नोट भी निःसार है।

लेखक ने जो पुण्य के हीन-उपमा वाले विशेषणों के उल्लेख अन्य ग्रन्थों में बतलाये हैं उसमें से एक भी उल्लेख इससे मेल नहीं खाता कि-
'ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूपी विष्ठा जगत में अज्ञानी जीव खाते हैं।''
अतः उन अधारों से इस अनुचित गलत उल्लेख का समर्थन नहीं होता।

अर्हन्त भगवान का समवशरण, आठ प्रतिहार्य, 34 अतिशय भी विभूति है, परम औदारिक शरीर, बज्रऋषभ नाराच संहनन, उच्चकुल, यशःकीर्ति भी पुण्य विभूति है, क्या यह सब विष्ठा के समान है? जिन-वाणी,

महान आध्यात्मिक ग्रन्थ, सुन्दर मन्दिर, प्रतिमायें भी पुण्य प्राप्ति की सामग्री हैं, क्या इन्हें भी ऐसी हीन-उपमा दी जा सकती है?

निर्ग्रन्थ मुनिचर्या, व्रतिक श्रावक चर्या, मुनियों को आहारदान, मंदिर निर्माण, ग्रन्थ-प्रकाशन, पारमार्थिक संस्थाएँ, तीर्थक्षेत्र आदि सभी पुण्य-सामग्री रूप हैं, क्या इन्हें यह हीन-उपमा दी जा सकती है?

छठी वार्ता

शुभ-भाव धर्म है या नहीं?

शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव में कहानपंथ साहित्य के अभिप्राय रूप छठी बात निम्नलिखत है-

'दान पूजादि शुभ भावों को धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्व है।'

पं. वंशीधर जी ने अपने ट्रेक्ट में 21 वें पृष्ठ पर श्री कहान भाई के समयसार-प्रवचन का जो अनुच्छेद (पैराग्राफ) दिया है उसमें यह वाक्य तथा अभिप्राय विद्यमान है।

धर्म और अधर्म का समझने के लिये श्री समन्तभद्राचार्य के रत्नकरण्डक श्रावकाचार का निम्नलिखित श्लोक ध्यान में रखना आवश्यक है-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥3॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र को अर्हन्त तीर्थंकरों ने 'धर्म' कहा है। इन तीनों के विपरीत-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार-भ्रमण के कारण हैं।

अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र धर्म हैं और मिथ्यात्व-अज्ञान मिथ्याचारित्र अधर्म है।

तदनुसार जिस व्यक्ति को रत्नकरण्डक श्रावकाचार के चौथे श्लोक के अनुसार वीतराग देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु का श्रद्धान होता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है।

यदि वह सम्यग्दर्शन-धर्म-धारी भगवान की पूजा करता है, तो उसका

वह कार्य भी कुदेव-पूजा के त्याग-स्वरूप धर्म है।

यदि सम्यग्दृष्टि अपने न्याय-उपार्जित द्रव्य से मोह ममता का त्याग करके दान करता है तो वह भी धर्म है।

कुदेवों की पूजा जब मिथ्यात्व है, अतएव अधर्म है, जब उस मिथ्यात्व या अधर्म का त्यागरूप वीतराग देव की पूजा करना सम्यक्त्व या धर्म है।

धन-संचय करना, उससे मोह ममता करना परिग्रह नामक 'पाप' है। उस धन से मोह ममता का त्याग करके दान करना 'धर्म' है। यह धर्म अधर्म की सीधी सुगम व्याख्या है।

मिथ्यात्व, पाप दुर्व्यसनों का त्याग करना 'धर्म' है तथा मिथ्यात्व सेवन, हिंसादिक पाप क्रिया, जुआ, माँस-भक्षण, मदिरापान आदि अधर्म है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भाव पाहुड़ में कहा है-

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरूद्दं सुहधम्मं जिणावरिंदेहिं ॥ 76 ॥
सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ 77 ॥

अर्थ- जीवों के भाव तीन प्रकारके होते हैं, शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें से आर्त ध्यान (दु:खी परिणाम) और रौद्र ध्यान (हिंसानंदी आदि दुष्ट परिणाम) अशुभ भाव हैं। शुभभाव धर्म ध्यान रूप हैं। आत्मा का कर्म रहित शुद्ध स्वभाव शुद्ध भाव-रूप है।

ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इसमें से जो तुमको हितकारी प्रतीत हो, उसका आचरण करो।

श्री कुन्कुन्द स्वामी के इस कथनानुसार सम्यग्दृष्टि के शुभभाव धर्मरूप है क्योंकि ये आर्त, रौद्र ध्यान रूप नहीं होते हैं। शुभ भावों में प्रगति (उन्नति) होते-होते उत्कृष्ट धर्म ध्यान से शुक्लध्यान का प्रादुर्भाव होता है। यह अव्यक्त राग-भाव सहित पहला शुक्लध्यान प्रगति करता हुआ जब बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्लध्यान स्वरूप हो जाता है, तब आत्मा घातिकर्म-मल से रहित होकर शुद्ध भाव को पा लेता है।

इसके अनुसार सम्यग्दृष्टि के दान, पूजा आदि के शुभ-भाव धर्म रूप हैं। क्योंकि दान करते समय आर्थिक-मोह का त्याग होता है और पूजा करते समय राग द्वेष-विमुक्त वीतराग देव के चिन्तन रूप एवं राग द्वेष-मय देवों की श्रद्धा के त्याग रूप परिणाम होते हैं, जो कि न आर्तध्यान रूप हैं न रौद्र ध्यान रूप हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने चारित्र की व्याख्या करते हुआ द्रव्य संग्रह में स्पष्ट लिखा है-

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारितं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ 45 ॥

अर्थ- पाप आदि अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना चारित्र है। व्रत, समिति, गुप्ति को जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार नय से चारित्र कहा है।

प्रमाणप्रमितार्थानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम्।
शुभक्रियासु वृत्तिश्च चारित्रमिति वर्ण्यते ॥ 101157 ॥

(हरि.पु.)

अर्थ- प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है।

''पापक्रियाानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ।6-5। (ज्ञानार्णव)

पाप क्रियाओं से निवृत्ति सम्यक्चारित्र है।

''चारित्रं' पापक्रियानिवृत्तिः'' (मुलाचार 5-2 टीका)

अर्थात्- पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है।

तदनुसार दान और पूजा आदि शुभकार्य, अशुभ से निवृत्ति रूप तथा शुभ प्रवृत्ति रूप हैं, अतएव ये चारित्र रूप होने से धर्म रूप हैं। मुनि समस्त जीवों को अभयदान करते हैं तथा स्तुति वन्दना रूप प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की भाव पूजा करते हैं। गृहस्थ भी अपने दैनिक षट् कर्म रूप में दान और पूजा करते हैं।

अतएव दान करना, पूजा करना तथा समिति आदि शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने रयणसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है-

दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा॥ 11॥

अर्थ- श्रावक के धर्म में दान करना और पूजा करना मुख्य धर्म है। दान और पूजा बिना श्रावक धर्म नहीं है।

पूयफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भंजदे णियदं॥ 14॥

अर्थात् पूजा के फल से अरहंत होता है और दान देने से (परम्परा से) मोक्ष सुख मिलता है। अत: दान या पूजा आदि सम्यग्दृष्टि के शुभ कार्यों को धर्म न मानना कहान पंथ साहित्य की आगम-विरुद्ध मान्यता है।

दान करते समय धन की मोह ममता छूटती है उस विरक्त परिणाम से कर्मों का संवर तथा निर्जरा होती है। पूजा करते समय कुदेव-श्रद्धा तथा अन्य पाप प्रवृत्ति के त्याग-मय भावों से अनेक कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है। तथा च-प्रशस्त राग में शुभ कर्म-बन्ध भी होता है। इस तरह संवर और निर्जरा का भी कारण होने से दान और पूजा आदि शुभ कार्य धर्म रूप हैं।

इन शुभ भावों को (ज्ञानदान, अभयदान तथा पूजा, स्तुति आदि को) श्री कहान भाई भी करते होंगे, फिर वे पुण्य को त्याज्य क्यों लिखते हैं ।

आधार

लेखक ने कहान पंथ साहित्य की गलत बात का समर्थन करने के लिये समयसार में आस्रव बन्ध अधिकार के तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक के आधार दिये हैं, वे उल्लेख अहंकार व अध्यवसाय की मुख्यता से हैं। सम्यक्त्व और चारित्र के अंश द्वारा होने वाले कर्मसंवर और कर्म निर्जरा का वहाँ पर प्रकरण नहीं है। अत: उन आधारों से कहानपंथ साहित्य की एकपक्षी एकांत मान्यता का समर्थन नहीं होता।

समयसार के निर्जरा अधिकार में सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण कहे गये हैं। फिर दान, पूजा और व्रत निर्जरा के कारण क्यों नहीं होंगे? अवश्य होंगे।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार का आस्रव बन्ध-अधिकार लिखा है, उन ही आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रन्थ भी लिखा है, उन ही आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ भी लिखा है, चारित्र पाहुड़ भी लिखा है, वहाँ उन्होंने दान, पूजा आदि शुभ भावों को 'धर्म' कहा है तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण कहा है।

बुद्धिमान सिद्धान्त-ज्ञाता को दोनों नयों की मध्यस्थता से विचार करना चाहिए। निश्चयनय का एकान्ती भी मिथ्यादृष्टि होता है।

श्री पं. टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में सम्यग्दर्शन का भी पूरा कथन नहीं कर पाये, सम्यक् चारित्र पर उन्हें मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखने का अवसर ही न मिल पाया। यदि वे सम्यक् चारित्र का प्रकरण भी लिखते तो दान, पूजा आदि चारित्र द्वारा होने वाले कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा का भी विस्तृत विवेचन अवश्य करते। क्योंकि वे पाँचवें छठे गुणस्थान में चारित्र से होने वाले संवर और निर्जरा के भी अच्छे जानकार थे। उन्होंने उस गोम्मटसार ग्रन्थ की विशाल टीका की है जिसमें सराग सम्यक्त्व, सराग चारित्र द्वारा गृहस्थ श्रावक तथा मुनि के अनेक कर्मों का संवर और अनेक कर्मों की प्रतिसमय निर्जरा होने का स्पष्ट विवेचन है।

सातवीं वार्ता

जिनवाणी एवं परस्त्री

माता के द्वारा जिस प्रकार बच्चे का पालन पोषण, संरक्षण होता है, इसी तरह जिन-वाणी से संसारी जीव का दु:ख सन्ताप से संरक्षण होता है, और परम्परा से उसे मुक्ति प्राप्त होती है। अत: ग्रन्थकारों ने जिनवाणी को 'माता' शब्द से भी सम्बोधन किया है।

परन्तु कहान पन्थ के साहित्य के 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण' नामक पुस्तक के प्रथम भाग के तीसरे अध्याय के 80 वें पृष्ठ पर उस जिनवाणी को पर-स्त्री की हीन-उपमा दी है या पर-स्त्री से जिनवाणी की तुलना की है वहाँ लिखा है-

''श्री वीतराग की वाणी श्रवण भी पर-विषय है और स्त्री भी पर विषय है। ज्ञानी के किसी भी पर विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है। .... अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान की वाणी को अच्छा मान कर पर विषय में भेद करता है।''

इसी वाक्य का संक्षिप्त अंश शास्त्रि-परिषद के प्रस्ताव में दिया गया है।

श्री पं. वंशीधरजी ने इस बात को उड़ाने के लिये अपने ट्रैक्ट में मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण भाग 2 के पृष्ठ 64 का अन्य पैराग्राफ लिख दिया है। और लिखा है कि-

''मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण भाग-1 तथा 2 के उपरोक्त किसी भी पृष्ठ पर कहीं भी ऐसा कथन नहीं है।''

पं. वंशीधरजी ने ऐसा क्यों किया है, इसको वे स्वयं जाने।

कहानपन्थ के नेता पर-पदार्थ से इतने भयभीत हैं कि हितकारी पर-पदार्थ से भी लाभ लेना उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता, इसी कारण वे आदरणीय पर-पदार्थ को भी दुत्कारते समय औचित्य को भूल जाते हैं। आत्मशुद्धि के कारणभूत सम्यग्दृष्टि के पुण्य को विष्ठा कह कर त्याज्य बताया तो आत्मा के लिए परम हितकारी जिनवाणी को भी पर-स्त्री समान त्याज्य बता दिया।

जबकि समवशरण में असंख्य जनता, हजारों महान ज्ञानी ऋषिमुनि, चार ज्ञानधारी गणधर, अवधि-ज्ञानी मुनि जिनवाणी को सुनने के लिए एकत्र होते हैं, बड़ी रुचि से उसे सुनते हैं, उसे सुनकर अपना मोहान्धकार तथा अज्ञानान्धकार दूर करते हैं, बोध प्राप्त करके आत्म-ध्यान करते हैं, बहुत से मुनि शुक्ल-ध्यान प्राप्त करके समवशरण में ही केवलज्ञानी होकर मुक्त भी हो जाते हैं।

उस जिनवाणी को कहानपन्थ का साहित्य पर-स्त्री की उपमा देता है, त्याज्य बतलाता है तथा कहता है कि 'ज्ञानी के वीतराग की वाणी श्रवण करने की भी भावना नहीं होती।' ऐसा ज्ञानी संभवत: चार ज्ञानधारी गणधर से भी उच्च ज्ञानी होगा! यदि उस ज्ञानी का नाम बता दिया जाता तो ठीक होता।

केवलज्ञान होने से पहले सम्यग्ज्ञानी मनुष्य भी ज्ञानावरण कर्म के उदय में 'अज्ञानी' (अल्प-ज्ञानी) होता है, अत: उसको अपना ज्ञान बढ़ाने की प्रबल उत्सुकता रहती है। इसलिये कहा जाने वाला ज्ञानी तो जिनवाणी सुनने का इच्छुक अवश्य होता है।

हाँ, जो व्यक्ति मरीचिकुमार सरीखे अभिमानी, अभागे और मिथ्या-ज्ञानी होते हैं, उन्हें जिनवाणी सुनने की इच्छा नहीं होती। क्योंकि मनुष्य के जब कान हैं तब उन कानों से कुछ न कुछ सुनना तो होगा ही। फिर जिनवाणी से भी और अधिक अच्छी कौन सी वाणी जिसे जिनवाणी को छोड़कर, ज्ञानी सुनने की इच्छा करे।

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर तथा अन्तिम केवली श्री के मुक्त हो जाने पर सैकड़ों वर्ष तक जो जिनवाणी मौखिक पठन से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा चलती रही, वे पढ़ने-पढ़ाने वाले ऋषि महर्षि महान ज्ञानी ही थे, उन्होंने उत्कृष्ट इच्छा से ही जिनवाणी का श्रवण एवं अवधारण किया। तदनन्तर जब शास्त्र-रचना की पद्धति प्रचलित हुई तब भी ज्ञानी आचार्य, मुनि गुरु-शिष्य परम्परा से जिनवाणी को इच्छापूर्वक पढ़ते पढ़ाते रहे। जिनवाणी को चिरस्थायी रखने के लिये उस जिनवाणी को शास्त्र निबद्ध करते रहे। इसी का यह मधुर फल है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी भगवान महावीर की जिनवाणी आज भी उपलब्ध है।

जिस समयसार के अध्ययन से श्री कहानभाई ने अपना उद्धार होना माना वह जिनवाणी रूप समयसार सुनने पढ़ने की इच्छा भी ज्ञानियों को ही होती है। अत: श्री कहानभाई को अपनी पूर्वोक्त गलत बात का स्वयं अनुभव क्यों नहीं हुआ यह दुर्भाग्य है।

श्री आ. पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ के 779 वें श्लोक में जिनवाणी को माता के रूप में स्मरण करते हुए लिखते हैं-

विधाय मात: प्रथमं त्वादाश्रयं, श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षय:।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते, यदीप्सितं वस्तु लभते हि मानव:॥

अर्थ- हे जिनवाणी माता! महान ऋषिगण पहले तेरा आश्रय लेकर ही मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। जैसे कि अन्धेरे घर में मनुष्य दीपक का आश्रय लेकर अभीष्ट वस्तु को पा लेता है।

ऐसी परमपूज्य जग-माता जिनवाणी को पर-स्त्री की उपमा देना तथा ज्ञानियों द्वारा जिनवाणी सुनने की भावना न बतलाना कितना अनुचित है, इस बात का अनुभव कहानपन्थ के नेता स्वयं करें।

आगे श्री पद्मनन्दि आचार्य श्लोक 801 में कहते हैं-

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती, गुरूपदेशोयमवर्णभेदतः।
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छति प्राणमृते न यच्छुभे॥

हे जिनवाणी माता! तेरा यथाविधि मनन पठन स्मरण करने पर ऐसी कोई सम्पदा नहीं, ऐसा कोई गुण नहीं, ऐसा कोई पद नहीं जिसको तू प्रदान न करती हो। यानी- जिनवाणी के स्मरण से स्वर्ग और मोक्ष पद प्राप्त होते हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य नियमसार ग्रन्थ की 'सम्मतस्स णिमित्तं जिणसुत्तं' आदि 53 वीं गाथा द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रकट होने का बाहरी निमित्त कारण जिनवाणी को बतलाते हैं।

ये ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रवचनसार में कहते हैं-

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोव चयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥86॥

अर्थ- जिनवाणी से प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा पदार्थ को जानने वाले ज्ञानी के नियम से मोह का समूह क्षय हो जाता है, इस कारण शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये।

श्री वीरसेन आचार्य धवल सिद्धान्त में लिखते हैं-

संसारविच्छतेः किं कारणम्? द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्ति परिणामश्च।
प्रथम पुस्तक, पृष्ठ॥302॥

अर्थ- प्रश्न-संसार के नाश करने का क्या कारण है?

उत्तर-द्वादशांग वाणी का ज्ञान, जिन-वाणी की भक्ति, केवली समुद्घात और अनिवृत रूप परिणाम, ये सब संसार के क्षय होने के कारण हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य ग्रन्थकारों ने भी जिनवाणी की भक्ति करने को तथा अध्ययन करने को कर्म-क्षय का एवं समस्त कल्याण प्राप्त करने का साधन बताया है।

भाषा कवियों ने भी-

1. जिनवाणी माता! दर्शन की बलिहारी।
2. हरो दुख माता भ्रमण का।

आदि कविताओं को पर-विषय बताने के लिये स्त्री की उपमा देना और उसे ज्ञानी द्वारा सुनने की भावना न बतलाना कहानपन्थ के साहित्य की अनुचित और अहितकारिणी बात है।

आधार

अपनी अनुचित गलत बात का समर्थन करने के लिये लेखक ने दो आधार दिये हैं।

1. पद्मनन्दि पंचविंशतिका। 2- मोक्षमार्ग प्रकाशक। सो मोक्षमार्ग प्रकाशक में पद्मनन्दि पंचविशतिका के कथन का ही अभिप्राय दिया है, अतः उसे पद्मनन्दि पंचविशतिका ही आधार समझना चाहिये।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थ के रचयिता श्री पद्मनन्दि आचार्य ने उसी ग्रन्थ के श्लोक 779-801 आदि में जिनवाणी माता को कितने आदर के साथ स्मरण किया है, उस पर पं. वंशीधर जी जैसे विद्वान दृष्टिपात करें और अपनी गलती का अनुभव करने का प्रयास करें।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने जिनवाणी के लिए अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है।

आठवीं वार्ता

हिंसा करते हुए पुण्य या पाप

आत्मा के भाव तीन प्रकार के होते हैं- 1 अशुभ 2 शुभ और 3 शुद्ध। आर्तध्यान (दु:ख-शोक-चिन्तामाय, रोगग्रस्तभाव) और रौद्रध्यान (तीव्रक्रोध, लोभ, अभिमान, मायाचार एवं निर्दयता, हिंसा, असत्य, धोखाधड़ी, चोरी डकैती बलात्कार व्यभिचार परिग्रहानंद के परिणाम) अशुभ परिणति के भाव हैं। इन परिणामों से असाता वेदनीय, नरक आयु, नरकगति आदि अशुभ कर्मों का आस्रव, बन्ध होता है।

सराग सम्यक्त्व, देश चारित्र (अणुव्रत), महाव्रत दया, दान, पूजा, परोपकार, धर्मध्यान आदि स्व-पर-हितकारी कार्य करना, सद्भावना के परिणाम शुभ भाव होते हैं। शुभ भावों से सुख सुविधा-जनक शुभ कर्मों का बन्ध होता है तथा कर्मों का संवर और निर्जरा भी होती है जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। धर्मध्यान शुभ भावमय होता है।

प्रशस्त राग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान से ऊपर के तथा अव्यक्त राग की अपेक्षा दशवें गुणस्थान से ऊपर ग्यारहवें गुणस्थान तक तथा उसके ऊपर रागद्वेष रहित शुद्ध परिणाम शुद्ध भाव होते हैं। शुद्ध-भाव मुक्ति के कारण हैं।

भावं तिविह पयारं, सुह असुहं सुद्धमेव तहा।
असुह च अट्टरुद्दं, सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं॥ 76॥
सुद्धं सुद्धसहायं...॥ 77॥

अर्थ- आत्मा के भाव तीन प्रकार के होते हैं अशुभ, शुभ और शुद्ध। आर्तध्यान रौद्रध्यान के परिणाम अशुभ होते हैं। धर्मध्यान के परिणाम शुभ रूप होते हैं। शुभ अशुभ भावों से रहित शुद्धस्वभाव रूप परिणाम शुद्ध होते हैं।

इनमें से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, दया, परोपकार, सदाचार के भाव अभव्य जीव के तथा भव्य मिथ्या-दृष्टि के भी होते हैं। मिथ्या-दृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि भी बाह्य रूप के महाव्रत, समिति आदि चारित्र का आचरण करते हैं, जो मात्र पुण्यबंध के कारण हैं। अत: उनके परिणाम भी

शुभ कहे जा सकते हैं, परन्तु असत्श्रद्धा (मिथ्यात्व) होने के कारण ये शुभ परिणाम संसार-भ्रमण के ही कारण होते हैं, मुक्ति के कारण नहीं होते। इसलिये वे परमार्थ से अशुद्ध हैं। (प्रवचनसार गाथा 9 पर श्री जयसेन आचार्य की टीका)

निदान-रहित सम्यग्दृष्टि के शुभ भाव (पुण्य) मोक्ष के कारण होते हैं क्योंकि उन भावों से संवर निर्जरा भी होती रहती है।

इसी कारण भाव संग्रह ग्रन्थ में श्री देवसेन आचार्य ने कहा है-

सम्मादिट्ठी पुण्णं णा होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ, जइवि णियाण ण सो कुणई॥402॥

अर्थ- सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव नियम से संसार का कारण नहीं होता। यदि सम्यग्दृष्टि निदान (आगामी सांसारिक भोगों की इच्छा) न करे तो उसका पुण्यभाव मोक्ष का कारण होता है।

गाय, हिरण, बकरा, मुर्गी, भैंसा आदि पशु पक्षियों का छुरी तलवार आदि से वध करते समय निर्दय तीव्र कषाय रूप अशुभ भाव होते हैं। उस क्रूर दुष्ट हिंसक परिणाम से नरकगति का कारण, अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

किन्तु सोनगढ़ से प्रकाशित 'मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण' पुस्तक के अ.3, पृ. 122 पर लिखा है-

'हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्य बन्ध होता है।'

यह बात जैन आगम के विरुद्ध है क्योंकि हिंसा सब पापों में मुख्य है। बकरी, गाय, मुर्गी आदि की हिंसा करते समय तीव्र संक्लेश रूप दुष्ट परिणाम होते हैं। निर्दय तीव्र क्रोध आदि कषाय हिंसा करते समय होती है, अत: उन तीव्र संक्लेश परिणामों से कसाई के पाप कर्म का बन्ध होता है।

पुण्य-बन्ध मन्द कषायों से होता है, जो कि निर्दयता से जीवों का कत्ल करने वाले कसाई के जीवों का कत्ल करते समय होते नहीं हैं।

श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित) अध्याय 6 सूत्र 15 की व्याख्या में 333 वें पृष्ठ पर लिखते हैं-

''हिंसादिक्रूरकर्माजस्रप्रवर्तन परस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादि लक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति।''

अर्थ- हिंसा आदि क्रूर (निर्दय दुष्ट) कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति रखना, अन्य व्यक्ति का धन-अपहरण करना, विषय भोगों की अत्यन्त लोलुपता कृष्ण लेश्या से उत्पन्न रौद्रध्यान से मरण आदि नरक आयु के आस्रव के कारण हैं।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी निर्दय हिंसाकृत्य को नरक आयु आदि अशुभ कर्म-बन्ध का कारण बताया है। किसी भी ग्रन्थकार ने कत्ल करते समय कसाई को पुण्य-बन्ध होना नहीं बतलाया।

भ्रम का कारण

श्री कहानभाई निम्नलिखित दो भ्रमों के कारण, पशुओं का कत्ल करते हुए भी कसाई के पुण्यबन्ध होना बतलाते हैं-

1- शरीर, अगुरुलघु, निर्माण ये ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृति है। इन प्रकृतियों का बन्ध प्रतिसमय हुआ करता है। जैसे ये प्रकृतियाँ शुभ योग के समय बंधती हैं इसी तरह अशुभ योग के समय भी बंधती हैं। इन ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियों के कारण श्री कहानभाई कसाई के पशुवध करते समय पुण्यबन्ध होना समझते हैं।

नरकगति के साथ पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, पर्याप्त, परघात आदि कुछ पुण्य प्रकृतियों का सन्निकर्ष है, अत: ये भी बंधती हैं।

2- मन्दकषाय से आप चैतन्य (ज्ञान दर्शन) का विकास समझते हैं, जैसा कि आपने लिखा है- ''निगोद जीव को भी अमुक मंद कषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्य का विकास है वह मंद कषाय का फल है। यदि कषाय रूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता। और वर्तमान में चैतन्य का जितना विकास है वह बन्ध का कारण नहीं होता।''

ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियों का बन्ध कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रति समय

अवश्य हुआ करता है। इसी कारण उनको 'ध्रुवबन्धी' कहते हैं। इन पुण्य प्रकृतियों के बन्ध होने में शुभ या अशुभ भाव कारण नहीं होते।

चैतन्य के विकास या आवरण का कारण न तो कषाय की मंदता (पुण्य भाव) है और न कषाय की तीव्रता (संक्लेश रूप पाप) है। चैतन्य का विकास तो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम पर आधारित है।

अतएव कृष्ण-लेश्या वाले तीव्र कषाय-युक्त सप्तम नरक के नारकी के भी अवधि ज्ञान होता है। तथा कषाय भाव का पूर्ण क्षय करने वाले 11 वें, 12वें गुणस्थानवर्ती अनेक वीतराग मुनियों के अवधि ज्ञान नहीं भी होता।

चैतन्य आत्मा का जीवत्व रूप पारिणामिक भाव है, उसका अभाव कभी हो नहीं सकता। चाहे कषाय की तीव्रता (पाप) चरम सीमा पर हो, तब भी चैतन्य का अस्तित्व मिट नहीं सकता।

अत: इन दोनों भ्रान्तियों के कारण जीव-वध करते हुए कसाई के पुण्यबन्ध समझना या कहना गलत है।

''शुभ योग के समय ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मों का बन्ध होने के कारण शुभ योग को पुण्य कर्म-आस्रव का कारण क्यों माना जाये?'' यह शंका, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में छठे अध्याय के तीसरे सूत्र ''शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य'' की व्याख्या में शंकाकार ने की है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने यह समाधान किया है कि-

योगों की शुभता या अशुभता, शुभकर्म-बन्ध या अशुभकर्म बन्ध पर आधारित नहीं है। योगों की शुभता, अशुभता, शुभ-अशुभ भावों पर आधारित है। अत: शुभ भावों से जो योग होता है वह शुभयोग है और अशुभ भावों से होने वाला योग अशुभ योग है।

तथा- पुण्य कर्म का आस्रव बन्ध केवल शुभयोग से ही होता है। श्री कहान भाई को इस आर्ष-कथन पर दृष्टिपात करना चाहिये।

जीवों के कत्ल करते समय कसाई के जब शुभयोग होता ही नहीं है, उसके उस समय अशुभ योग ही होता है, तब उसके पुण्य-बन्ध बतलाना

आगम-विरुद्ध है। उस कत्ल करते समय भी उसके ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियों का आस्रव उसके हिंसक परिणामों के कारण नहीं होता। उसका कारण उन कर्म-प्रकृतियों की स्वाभाविक ध्रुव-बन्धता है।

पुण्य और पाप एक समान नहीं है, उनमें महान अन्तर है।

सराग सम्यक्त्व भी पुण्य भाव है और सराग चारित्र भी पुण्यभाव है, धर्मध्यान भी पुण्यभाव है। ये पुण्य भाव संसार-भ्रमण के कारण नहीं हैं, परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। जबकि पापभाव मुक्ति का कारण नहीं होता, संसार का ही कारण होता है।

अतएव पाप रूप प्रथम गुणस्थान में केवल कर्मों का आस्रव, बन्ध ही होता है, संवर और निर्जरा (अविपाक) नहीं होती। मिथ्यात्व के कारण मिथ्यादृष्टि का पुण्य निरा (केवल) कर्म-बन्ध होने के कारण वास्तव में पाप रूप ही माना गया है।

पुण्य भाव वास्तव में प्रशस्त रागभाव के कारण चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक (प्रशस्त राग भाव की अपेक्षा) और दसवें गुणस्थान तक (सूक्ष्म राग की अपेक्षा) माना गया है, वहाँ पर कर्मों का संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। अतएव पुण्य और पाप को कसाई का दृष्टान्त देकर एक समान बतलाने की चेष्टा करना उचित नहीं है। यदि जीव-हिंसा और अहिंसा को एक समान मान लिया जावे तो संयम और असंयम में कुछ अन्तर ही न रहेगा।

उपदेष्टा को यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि वह सिद्धान्त से अनभिज्ञ साधारण जनता के समक्ष कोई ऐसी बात न कहे जिसका अर्थ का अनर्थ कर श्रोता विपरीत भी समझ लें। जैसे यह कह दिया जावे कि-

"खाना पीना और मैथुन सेवन शरीर की जड़-क्रिया है। आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है। अत: आत्मा न खाता पीता है और न विषय-भोग यानी-काम-सेवन करता है। यह काम तो जड़ शरीर ही करता है।"

इस उपदेश का अर्थ मद्यपायी, माँस-भक्षी, कामातुर व्यभिचारी पापी

लोग अपने यथेष्ट विषय-पोषण, दुराचार-सेवन-परक भी निकालते हैं और मद्यपान, वेश्यागमन करते हुए भी आत्मा को उससे अलिप्त मानते हैं।

इसी तरह जीवों का कत्ल करते समय कसाई के पुण्य-बन्ध होना, कहानपंथ साहित्य द्वारा बतलाने का अनर्थरूपी दुष्परिणाम जनसाधारण के मानस पर अंकित हो सकता है। इस पर कहानपंथ के नेताओं का ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है।

नौवीं वार्ता

मुनि का लक्षण

श्री समन्तभद्राचार्य ने धर्म गुरु का लक्षण-निर्देश करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥10॥

अर्थ- जो महान व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों से अतीत है (विषयभोगों का परित्यागी है), गृहस्थाश्रम- सम्बन्धी समस्त आरम्भों और परिग्रहों का त्यागी है तथा जो ज्ञान-आराधना और अन्तरंग तपश्चरण करने में लीन रहता है, वह महाव्रतधारी तपस्वी प्रशंसनीय है।

खेद है कि ऐसे नग्न दिगम्बर तपस्वी की निन्दा विविध प्रकार से कहानपंथ साहित्य करता है। दिगम्बर मुनि बनना इस कलिकाल में कितना दुर्लभ है, इस विषय पर श्री सोमदेव सूरि उपासकाध्ययन में कहते हैं-

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥796॥

अर्थ- इस कलिकाल में मनुष्य का मन सदा विषयभोगों में चंचल बना रहता है और यह शरीर खाने-पीने का कीड़ा बन गया है, ऐसे कलिकाल में जिनेन्द्र-मुद्रा को धारण करने वाले दिगम्बर मुनि पाये जाते हैं, यह महान आश्चर्य की बात है।

सम्यग्दृष्टि धार्मिक व्यक्ति को इस सर्वोच्च साधुता की प्रतीक जिनेन्द्र-

मुद्रा (जिनेन्द्र भगवान की छाप) का त्रियोग से आदर करना चाहिए। ऐसा न करके जो व्यक्ति उनकी निन्दा करते हैं, वे स्वयं आत्म-निरीक्षण करें कि क्या यह सम्यक्त्व का चिन्ह है?

अभव्य द्रव्यलिंगी तथा कोई-कोई भव्य मुनि भी द्रव्य लिंगी होते हैं, जिनका बाहरी रूप नग्न दिगम्बर होता है परन्तु उस महाव्रती आचरण के अनुसार उनका अन्तरंग चारित्र नहीं होता। इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय मुख्य कारण होता है। परन्तु उस कर्म-उदय पर उस द्रव्य-लिंगी मुनि का कुछ वश नहीं चल सकता। उनमें से भव्य तो कर्म-क्षय करने के लिए ही शारीरिक मोह तथा सांसारिक विषय-वासनाओं को छोड़कर मुनिचर्या करता है, ऐसा करना ही उसके अपने वश की बात है, अत: उसके स्व-वश आचरण में प्राय: कमी नहीं होती। यदि विशेष कर्म-उदय-वश उसके अन्तरंग चारित्र में कुछ कमी है तो उस पर उसका वश नहीं।

भगवान आदिनाथ एक हजार वर्ष तक नग्न दिगम्बर रूप में तपश्चरण करते रहे किन्तु उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती अन्तर्मुहूर्त्त तक ही (मुनि दीक्षा लेकर आत्म-ध्यान प्रारम्भ करने तक ही) तपस्वी बने। जो अर्हन्त-पद; भगवान आदिनाथ को एक हजार वर्ष तपश्चरण करने के बाद मिला, वह अर्हन्त-पद भरत चक्रवर्ती को एक घण्टे के भीतर ही मिल गया। इसलिए मुनि का द्रव्यलिंग उसके अपने अधीन होता है, भावलिंग उसके अपने अधीन नहीं होता।

द्रव्यलिंग भावलिंग

मुनियों का नग्न दिगम्बर रूप द्रव्यलिंग कहलाता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से छठे सातवें आदि गुणस्थान-वाली आत्म-शुद्धि होना मुनि का भावलिंग है। तदनुसार द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्या-दृष्टि ही होते हों, सर्वथा ऐसी बात नहीं है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अनुदय वाले तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय-उदय वाले यानी अन्तरंग से असंयत सम्यग्दृष्टि भी द्रव्यलिंगी मुनि होते हैं। एवं अनन्तानुबन्धी

तथा अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय (क्षयोपशम) वाले किन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय वाले यानी-अन्तरंग में सम्यग्दृष्टि श्रावक के (पंचम गुणस्थान के) भावधारी दिगम्बर मुनि भी द्रव्यलिंगी हुआ करते हैं। यह अन्तरंग परिणामों की विचित्रता है। इस पर उन मुनि का वश नहीं चलता।

परन्तु इतनी बात अवश्य है कि मति श्रुतज्ञानी व्यक्ति किसी मुनि के भावलिंग को अपने ज्ञान से नहीं जान सकता। भावलिंग तो प्रत्यक्ष यानी-केवलज्ञान आदि दिव्यज्ञान-गम्य है, मतिज्ञान श्रुतज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अत: श्री कहान भाई या उनके अनुयायी किसी भी मुनि के विषय में यह नहीं बतला सकते हैं कि "यह द्रव्यलिंगी है, भावलिंगी नहीं है।"

ऐसा स्पष्ट न जानते हुए भी मुनि के द्रव्यलिंग की अवहेलना करना, आदर सत्कार, विनय, प्रणाम आदि न करना, निन्दा करना गुरु-श्रद्धा या सम्यग्दर्शन का चिन्ह नहीं है।

प्रकरण न होते हुए भी श्री कहान भाई ने समयसार-प्रवचन में जो दिगम्बर मुनि की अनुचित आलोचना की है, इसके स्थान पर यदि वे स्वयं भावलिंगी मुनि बन कर आदर्श उपस्थित करते तो युक्ति-युक्त ठीक होता और तब उनके वचन में कुछ सार और बल होता।

स्वयं मुनिपद प्राप्त करने में असमर्थ होकर उस महान पद-धारी साधु की निन्दा करना अनुचित बात है, पुष्पडाल मुनि वर्षों तक मात्र द्रव्यलिंगी मुनि बने रहे। इसी प्रकार भवदेव भी वर्षों तक द्रव्यलिंगी मुनि बने रहे, किन्तु संघ में रहे और संघ के भावलिंगी मुनि उनको नमोस्तु आदि करके मुनि का व्यवहार करते थे, श्रावक उन्हें नवधा भक्ति पूर्वक आहार देते थे, किसी ने भी उनकी निन्दा नहीं की।

जड़-क्रिया

शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव में जो नौवीं बात है, वह श्री कहान भाई ने अपनी पुस्तक मोक्ष-मार्ग की किरण के सातवें अध्याय पृष्ठ 180 पर यों लिखी है-

''दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़ क्रिया है।''

श्री कहान भाई की इस गलत बात का समर्थन, बिना किसी युक्ति को उपस्थित किये श्री पं. वंशीधर जी ने ट्रेक्ट के पृष्ठ 28-29 पर किया है जिसमें केवल मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण का प्रकाशित मैटर उद्धृत कर दिया है। अस्तु।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि ''किसी भी संसारी जीव की कोई भी क्रिया बिना शरीर का (जिसमें कि बोलने के अंग जीभ, ओठ, कंठ, तालु, दांत तथा विचार करने के अंग द्रव्यमन, मस्तिष्क भी सम्मिलित हैं) सहारा लिये क्या स्वाधीन भी है?''

संसारी जीव का जीवन भी जड़ द्रव्य रूप आयुकर्म के उदय-आधीन एवं साँस, वायु, जल, भोजन, शरीर, इन्द्रिय (द्रव्य इन्द्रिय), द्रव्य-मन, वचन के आश्रित हैं। जिस समय तक इन जड़ पदार्थों का आश्रय संसारी जीव को मिलता है, तब तक वह जीता है, जिस क्षण इन जड़ पदार्थों का आश्रय छूट जाता है उसी समय जीव की अनचाही मृत्यु हो जाती है। जीवन-मरण की इस प्रक्रिया से सभी छोटे-बड़े, ज्ञानी-अज्ञानी, कहानपंथ के साहित्यकार तथा उनके समर्थक सुपरिचित हैं। वे परिचित ही नहीं हैं अपितु उनकी भी समस्त जीवन-प्रक्रिया जड़-द्रव्याश्रित अनुभूत भी हैं। वे कहने को तो द्विक्रियावाद आदि की बात लिखकर कुछ भी कह ले परन्तु वे स्वयं उस द्विक्रियावाद से क्रियात्मक रूप में एक क्षण भी छूट नहीं सकते। अत: यह बात कहना और लिखना नि:सार है, जिसे करके वे एक दिन भी दिखा नहीं सकते।

यह बात ठीक है कि संसारी जीव का शरीर पौद्गलिक है, जड़ और आत्मा अमूर्तिक चैतन्य-मूर्ति है। यह भी ठीक है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी ही क्रिया कर सकता है, अन्य द्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता परन्तु इसके साथ ही विचारणीय यह बात भी है कि मूर्तिक (कार्माण द्रव्य) और अमूर्तिक (आत्म द्रव्य) का परस्पर अनादिकालीन बन्ध है। इस असंभव-से प्रतीत होने

वाले जड़ और चेतन द्रव्य के पारस्परिक बन्ध के कारण न तो स्वतन्त्र अकेला जीव कुछ कार्य कर सकता है और न जीव-बद्ध पुद्गल स्वतंत्र अकेला कोई कार्य कर सकता है।

जिस तरह साईकल को साईकल-सवार चलाता है और साईकल अपने सवार मनुष्य को कहीं से कहीं पहुँचा देती है, यानी चलाती है। बिना सवार की प्रेरणा के साईकल नहीं चल सकती और बिना साईकल के उसका सवार उतनी सुविधा तथा तेजी से यात्रा नहीं कर सकता, संसारी जीव और उससे सम्बद्ध जड़ पुद्गल की भी ऐसी ही बात है।

जीव की इच्छा और प्रेरणा होती है तब पौद्गलिक पैर जीव को चला कर कहीं का कहीं पहुँचा देते हैं। यदि पैर टूट जाते हैं तो जीव जहाँ का तहाँ पड़ा रहता है। जीव अपने शारीरिक हाथों को जब प्रेरणा करता है तब ही वे हाथ लिखना, उठाना, धरना आदि कार्य करते हैं। किन्तु यदि हाथों को लकवा मार जावे तो वे ही हाथ जीव को इच्छा होते हुए भी कुछ काम नहीं कर सकते। इसी तरह आत्मा की जब प्रेरणा होती है, तभी मुख, जीभ द्वारा शब्द-वर्गणाएँ भाषा रूप परिणत होती है। यदि कण्ठ, जीभ, मुख पक्षाघात (लकवा) से अथवा अन्य किसी कारण से क्रियाहीन हो जावें तो चाहता हुआ भी आत्मा अपने भाव को शब्दों द्वारा प्रगट नहीं कर सकता।

इस तरह चलना, फिरना, लिखना, करना, धरना, बोलना चालना आदि शारीरिक कार्य आत्मा और शरीर की मिश्रित साझेदारी से हुआ करते हैं। अतएव न तो ये कोरे अकेले आत्मा के कार्य हैं और न ये केवल शरीर की जड़क्रिया है।

निर्जीव (मुर्दा) शरीर की किसी क्रिया को तो जड़क्रिया कहा जा सकता है परन्तु जीवित (सजीव) शरीर की क्रिया को जड़क्रिया कहना वज्रभूल है। जड़ शरीर तो एक शब्द भी नहीं बोल सकता। जड़ शरीर को तो अग्नि पर रख दिया जाता है फिर वह एक शब्द तक मुख से नहीं निकालता, जब कि सजीव शरीर एक चिनगारी के छूते ही चीखने लगता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का अभिमत

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय का प्रारम्भ करते हुए इसी जड़ शब्दात्मक श्रुत को सिर झुका कर नमस्कार किया है-

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
ऐसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि॥2॥

अर्थ- महान श्रमण भगवान महावीर के मुख से निकले हुए अर्थमय चतुर्गति संसार को नष्ट करने वाले, मोक्ष प्रगट करने वाले, इस समय को मैं सिर झुका कर प्रणाम करके इस पंचास्तिकाय समयसार को कहता हूँ, सो सुनो।

श्री कहानभाई तो कहते हैं कि-

''दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं, उपदेश तो जड़-क्रिया है।''

किन्तु पंचास्तिकाय के मंगलाचरण में श्री कुन्दकुन्द स्वामी सबसे बड़े मुनि, सर्वज्ञ, पूर्ण वीतराग भगवान महावीर को उपदेश-दाता लिख रहे हैं, उस जड़ उपदेश को चारों गति के भ्रमण का नाशक तथा निर्वाणदाता बतला रहे हैं, वे उस उपदेश (द्रव्य श्रुत) को सिर झुका कर नमस्कार कर रहे हैं। एवं स्वयं भी उस जड़क्रिया के कर्ता बन कर पंचास्तिकाय को कहने या लिखने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। तथा च स्वाध्यायकर्ताओं एवं श्रोताओं को पंचास्तिकाय सुनने की (लोट् लकार रूप) आदेशात्मक (आज्ञारूप) प्रेरणा कर रहे हैं।

क्या यह उपदेश देना वीतराग तीर्थंकर एवं महान मुनि की क्रिया नहीं है या यह उपदेश जड़क्रिया है? यह एक प्रश्न है जिसका स्पष्ट उत्तर श्री कहान भाई तथा पं. वंशीधरजी दें।

अपराधी भी निरपराध

संसार में जितने कुकर्म, अपराध, अत्याचार, दुराचार होते हैं वे सब शरीर, वचन और मन से होते हैं और ये तीनों-द्रव्यमन, वचन और शरीर जड़ पौद्गलिक पदार्थ हैं, अत: वे सभी कुकर्म, अपराध, अत्याचार, दुराचार श्री

कहान भाई के लिखे अनुसार जड़क्रिया रूप हैं, तो आत्मा इस क्रिया का अपराधी क्यों माना जाता है क्योंकि जड़क्रिया करना आत्मा का लक्षण नहीं एवं शरीर तो पर पदार्थ है।

फिर किसी मनुष्य के हत्यारे को प्राण का दण्ड (फांसी) क्यों मिलता है, क्योंकि वह हत्या तो जड़-क्रिया है, आत्मा की क्रिया नहीं है? शराब पीना, मांस खाना क्यों निषिद्ध है क्योंकि खान पान तो जड़-क्रिया है? व्यभिचार भी आत्मा के लिए पाप क्यों हो, क्योंकि वह भी शरीर की जड़-क्रिया है?

इस तरह जड़-क्रिया के सिद्धान्त से संसार में आत्मा के लिये त्याज्य कोई भी अपराध या दुराचार नहीं रहता, फिर नरक जाना, फांसी चढ़ाना, कारावास (जेल) आदि दण्ड क्यों दिया जाता है तथा क्यों भोगा जाता है?

स्वयं भी करते हैं

श्री कहानभाई ने मुनियों के लिए तो कह दिया कि 'दूसरों को उपदेश देना मुनियों का लक्षण नहीं है, उपदेश देना जड़क्रिया है।' परन्तु वे स्वयं प्रतिदिन जो श्रोताओं को उपदेश देते हैं सो क्या वह उनके आत्मा की क्रिया है? या क्या उनका उपदेश जड़-क्रिया है? यदि है तो वह उस जड़-क्रिया को क्यों करते हैं? वे जो अतिव्याप्ति दोष मुनियों के लक्षण में दिखा रहे हैं क्या वह दोष आपके प्रवचन में नहीं आता?

तथा च-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप मुनि का लक्षण मुनियों में नहीं पाया जाता, इस बात को कौन अल्पज्ञ व्यक्ति साधिकार कह सकता है?

आधार

कहानपंथ साहित्य के पक्ष-पोषण के लिये लेखक ने जो समयसार की गाथा 86-87 तथा 321-323 का संकेत किया है, सो इसके साथ ही लेखक पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा और उसकी टीकाओं का भी अवलोकन करें तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य की नय-शैली का अनुभव करके करना भ्रम निरास करें। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने ग्रन्थ में केवल निश्चय नय का एकान्त पक्ष नहीं लिया।

उन्होंने जिस समयसार में यह लिखा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ कुछ नहीं कर सकता, उसी समयसार में यह भी स्पष्ट लिखा है कि संसारी जीव जड़-कर्म आयु के उदय से जीता है, आयु कर्म के क्षय से मरता है, आत्मा के सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र का पौद्गलिक दर्शन मोहनीय ज्ञानावरण, चारित्र मोहनीय कर्म प्रतिबन्ध करता है।

2. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ.327 का कथन मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा से है, सम्यग्दृष्टि मुनि की अपेक्षा से नहीं है। किन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के अमूर्तिक गुण है, वे दिव्य ज्ञान-गम्य हैं। श्री कहान भाई तथा पं. वंशीधर जी दिव्य-ज्ञाता नहीं हैं जिससे वे किसी एक के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व को स्पष्ट जान सकें।

अत: ये आधार कहानपंथ-साहित्य की गलत मान्यता को प्रकट करते।

निमित्त-कर्ता

स्वतन्त्रता से किसी भी काम के करने वाले को 'कर्ता' (करने वाला) कहते हैं। वह कर्ता दो प्रकार का होता है- 1. उपादान कर्ता, 2. हेतु-कर्ता या निमित्त कर्ता। जहाँ स्वयं उपादान कारण किसी कार्य को करता है उस क्रिया का उपादान कर्ता होता है। जैसे- विद्यार्थी पढ़ता है उस पढ़ने की क्रिया का करने वाला स्वयं विद्यार्थी है, अत: 'पढ़ता है' इस क्रिया का विद्यार्थी स्वयं उपादान रूप से कर्ता है।

जहाँ पर उपादान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ किसी क्रिया में प्रेरक (प्रेरणा करने रूप), बलाधान (उस काम में सहायक) या उदासीन रूप से करने वाला होता है वहाँ वह अन्य पदार्थ उस क्रिया का हेतु-कर्ता या निमित्त-कर्ता होता है। जैसे अध्यापक पढ़ाता है। यहाँ विद्यार्थी के ज्ञान उत्पादन क्रिया में अध्यापक निमित्त-कारण है, अत: वह अध्यापक विद्यार्थी की ज्ञान-वृद्धि क्रिया का हेतु-कर्ता है।

इसी प्रकार जीव संसार में भ्रमण करता है इस संसार-भ्रमण क्रिया का हेतुकर्ता या निमित्त-कर्ता पौद्गलिक जड़ कर्म गति, आयु है, क्योंकि गति कर्म

की प्रेरणा (जबरदस्ती) से जीव को नरक, निगोद आदि गतियों में भ्रमण करना पड़ता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य पंचास्तिकाय में लिखते हैं-

णेरइतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं॥55॥

अर्थ- नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति नाम कर्म आत्मा के सत् (पूर्व पर्याय के अस्तित्व) का नाश करता है और असत् (नई पर्याय) की उत्पत्ति करता है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने आत्मा की नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय का हेतुकर्ता पौद्गलिक नाम कर्म को बतलाया है। विस्तार भय से यहाँ श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा श्री जयसेन आचार्य की टीका नहीं दे रहे, जिन भाइयों को जिज्ञासा हो, वे वहाँ देख लें। जो मुमुक्षु भाई या कहानपंथ के नेता आत्मा के संसार-भ्रमण कर्ता द्विक्रियावाद की आशंका खड़ा करके नाम कर्म रूप अन्य द्रव्य को नहीं मानते, वे उन दोनों टीकाओं को देखकर अपनी भ्रान्ति अवश्य दूर कर लें।

इसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा उपदेश क्रिया का हेतुकर्ता है। यानी- मुनियों की जड़ रूप पौद्गलिक रसना इन्द्रिय (जीभ) भव्य श्रोता-गणों को आत्म-कल्याण करने वाला उपदेश देती है परन्तु उस कल्याणकारी उपदेश का प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) हेतुकर्ता मुनि का आत्मा होता है। बिना मुनि के आत्मा के, या उनकी प्रेरणा के बिना वह रसना (जीभ) उपदेश का एक अक्षर भी नहीं कह सकती।

केवली के परम औदारिक शरीर में जब आत्मा होता है तब ही उसके निमित्त से दिव्य ध्वनि खिरती है। इसलिए उस दिव्य-ध्वनि रूप उपदेश के हेतुकर्ता तीर्थंकर केवली भगवान होते हैं।

दशवीं वार्ता

तीर्थंकर की वाणी

आत्मा को संसार में भ्रमण कर्म-उदय के निमित्त से करना पड़ता है, अतएव जब तक समस्त कर्म जाल का क्षय नहीं हो जाता, तब तक आत्मा संसार से मुक्त नहीं हो पाता; यह बात सत्य है। तथापि जिस तरह पैर में चुभा हुआ कांटा अन्य काँटे की नोंक से निकाला जाता है। विष को उपशम करने के लिए या उसे निर्विष बनाने के लिए अन्य विष का प्रयोग किया जाता है। नीतिकार का कहना है- 'विषस्य विषमौषधम्' यानि- विष की औषध विष ही होती है। लोहे को लोहा ही काटता है, इसी तरह कर्म-बन्धन काटने के लिये भी अन्य विशिष्ट कर्म का उदय अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है।

आत्मा में संसार-भ्रमण की योग्यता जैसे अपने स्वभाव से नहीं होती है, कर्म-बन्ध तथा कर्म-उदय के कारण होती है, उसी तरह कर्मों के क्षय करने की योग्यता भी कुछ विशिष्ट कर्मों का उदय होने पर ही आत्मा में प्रगट होती है।

कोई भी संसारी जीव तब तक कर्म बन्धन काटने के योग्य सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म का उदय न हो। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव तथा अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी सम्यक्त्व ग्रहण नहीं कर सकते।

इस तरह मुक्ति का मूल कारण सम्यक्त्व भी आत्मा को तभी प्राप्त हो सकता है जब कि जीव के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त कर्म का उदय होगा।

यह तो हो सकता है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होकर भी भव्य न होने के कारण तथा देशना प्रायोग्य करण आदि लब्धि के न होने पर, सम्यक्त्व प्राप्ति की सामग्री में विकलता (अपूर्णता) होने के कारण सम्यक्त्व न होवे परन्तु यह निश्चित है कि यदि सम्यक्त्व होगा तो जीव के पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्त नाम कर्म का उदय अवश्य होगा, इन कर्मों के उदय के बिना संसारी जीव में सम्यग्दृष्टि बनने की योग्यता नहीं होती।

इसी प्रकार सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता का विकास भी तब ही होता है जब उसको जिनवाणी के सुनने का अवसर मिलता है। बिना जिनवाणी सुने आत्मा में सम्यक्त्व उदय होने की योग्यता नहीं आती, यह देशना लब्धि है, जो कि पाँच लब्धियों में तीसरी है।

अन्तरंग में मिथ्यात्व का उदय हो, तब यद्यपि जिनवाणी का श्रवण भी सम्यक्त्व उदय करने में सफल नहीं हो पाता। जिस तरह कि बन्ध्या स्त्री को अपनी अन्तरंग योग्यता के अभाव में अपने पति का प्रसंग मिलने पर भी गर्भाधान नहीं होता। परन्तु यह बात तो सुनिश्चित है कि स्त्री को गर्भाधान पुरुष के प्रसंग मिले बिना नहीं हो सकता क्योंकि गर्भाधान का मूल कारण गर्भाशय में रज वीर्य का मिश्रण होना है। इसी तरह यदि सम्यक्त्व होगा, तो तत्काल जिनवाणी का श्रवण अथवा निसर्गज सम्यक्त्व की अपेक्षा पूर्व भव में जिनवाणी सुनने का संस्कार जीव के अवश्य होगा।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में बतलाया है-

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेदु भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ 53 ॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का बाहरी निमित्त कारण जिनवाणी तथा जिनवाणी के उपदेशदाता मुनि आचार्य, तीर्थंकर आदि हैं और अन्तरंग निमित्त कारण दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय उपशम आदि है।

इस तरह श्री 1008 सीमन्धर तीर्थंकर की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने वाले, मूल संघ के संस्थापक श्री कुन्दकुन्द आचार्य सम्यक्त्व होने का मूल कारण जिनवाणी का सुनना स्पष्ट रूप से बतलाते हैं, तब कहान भाई अपनी पुस्तक 'मोक्षमार्ग की किरण' दूसरा भाग पृष्ठ 212 पर लिखते हैं कि-

''तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता।''

अपने इस कथन की पुष्टि में तर्क यह दी गई है कि-

''जिस परिणाम से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ वह परिणाम जीव को अपने लिये हेय है और प्रकृति अहितकर है तो फिर वह

दूसरों को हितकर कैसे हो सकती है। अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है।''

यह तर्क और मूल बात कितनी गलत है, इसको साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है, परन्तु पं. वंशीधर जी उस गलती की भी पुष्टि कर रहे हैं।

संसार के जीवों का आत्म-उद्धार तीर्थंकर के अनुपम प्रभावशाली उपदेश के द्वारा ही हुआ करता है। आज तक ऐसा एक भी मुक्त जीव न हुआ और न भविष्य में होगा जो तीर्थंकर की वाणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बिना सुने मुक्त होने की योग्यता (सम्यक्त्व) प्राप्त कर सका हो। अत: तीर्थंकर को संसार में तीन जगत का यानी समस्त संसारी जीवों का कल्याणकारी माना गया है, इसी महान उपकार के उपलक्ष में प्रत्येक ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में कृतज्ञता के साथ तीर्थंकरों का स्मरण तथा नमस्कार किया है। परन्तु कहान भाई इस महान सत्य का अपलाप करके कहते हैं कि तीर्थंकर की वाणी से किसी जीव को लाभ नहीं होता, किमाश्चर्ययत: परम्-इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है?

तीर्थंकर प्रकृति

प्रवचनसार को गाथा 45 द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य के पुण्य का उत्कृष्ट फल निर्दिष्ट करते हुये लिखा है-

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया, तम्हा सा खाइगित्ति मता ॥45॥

अर्थ- उनका विहार, दिव्यध्वनि आदि क्रिया तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्म के उदय से औदयिकी होती है। परन्तु वे मोहनीय आदि घाति कर्मों का क्षय कर चुके हैं अत: उसे क्षायिकी माना गया है।

यानी-पुण्य का सबसे उत्कृष्ट फल अर्हन्त होना है।

अर्थात्- पापी, अभागे व्यक्ति अर्हन्त नहीं हो सकते, परम पुण्यशाली व्यक्ति ही अर्हन्त होते हैं।

पंचास्तिकाय गाथा 85 की टीका में भी कहा है कि तीर्थंकर प्रकृति मोक्ष के लिये सहकारी कारण है।

पुण्य और पाप को एक समान मानने वाले कहान भाई श्री कुन्दकुन्द आचार्य के इस एक मूल वाक्य से पुण्य और पाप के महान अन्तर को अनुभव कर सकते हैं।

पाप जब संसार में नरक निगोद आदि गतियों का भ्रमण कराता है तब पुण्य आत्मा को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्चारित्रनिष्ठ और घातिकर्म मुक्त भी बनने में सहायता देता है। मिथ्यादृष्टि का पुण्य तो सोने की बेड़ी माना जा सकती है, परन्तु सम्यग्दृष्टि का पुण्य तो उस लोहे और सोने की बेड़ी को काटने वाला तथा अर्हन्त तक बना देने वाला है। अत: श्री कुन्दकुन्द आचार्य के वाक्य की आप अवहेलना न करें; उसको तो प्रमाण माने।

इसी लक्ष्य से श्री देवसेन आचार्य ने भावसंग्रह ग्रन्थ में लिखा है-

सम्माइट्ठी-पुण्णं ण होई संसारकारणं णियमा,
मोक्खस्स होई-हेऊ, जइवि णियाणं ण सो कुणई ॥401॥

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य संसार-भ्रमण का कारण नहीं होता। सम्यग्दृष्टि यदि निदान न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

ऐसी दशा में मुक्ति मिलने में आर्षग्रन्थोक्त पुण्य को हेय (त्याज्य) बतलाना बहुत भारी गलती है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है, जिसको शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं होता, उस व्यक्ति को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता। इसी कारण तीर्थंकर प्रकृति-बन्ध की कारण मूल 16 भावनाओं में 'दर्शन विशुद्धि' भावना मुख्य है।

विशुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ विनय, निरतिचार शीलव्रत, सतत ज्ञानाभ्यास, संवेग, शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप, साधु समाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, शास्त्र भक्ति आवश्यक दैनिक धार्मिक षट्कर्म का पूर्णत: पालन, प्रभावना, साधर्मी वात्सल्य, ये 15 भावनाएँ अथवा इनमें से कुछ भावनाएँ भी जिस महान् व्यक्ति के होती हैं, जिसके हृदय में ऐसी उत्कृट पवित्र भावना होती है कि ''मैं कर्म-

पीड़ित, दु:खी संसारी जीवों का उद्धार करूँ।'' उस महान व्यक्ति के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। ऐसा महान आध्यात्मिक व्यक्ति असंख्य मनुष्यों में से कोई विरला ही होता है।

अतएव एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी युग में भरत, ऐरावत क्षेत्र में जहाँ साधारण मुक्ति-गामी मनुष्य असंख्य होते हैं, वहाँ तीर्थंकर केवल 24 होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत सभी भावनाएँ मुक्ति की कारणभूत भावनाएँ हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र की वृद्धि करने वाली हैं। इनमें कोई एक भी भावना ऐसी नहीं है, जो संसार भ्रमण की कारण हो। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो वैसे ही मुक्ति-पथ में प्रगति कराने वाली होती है।

तीर्थंकर प्रकृति के कारण मुक्त होना उसी भव से अथवा तीसरे भव में निश्चित हो जाता है। तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण के समय ऐसा महान दिव्य उत्सव होता है जिसको देखकर बहुत से जीवों को मुक्ति के कारणभूत कल्याणकारी सम्यक्त्व का उदय होता है, इसी कारण उन उत्सवों को कल्याणक (देखने वालों को भी कल्याणकारी) कहते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि जब चारों घाति कर्म क्षय हो जाते हैं तब अर्हन्त अवस्था में उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। तीर्थंकर का उपदेश सुनने के लिये असंख्य जीवों के लिये सुविधाजनक विशाल सभा मण्डप (समवशरण) बनता है। जिस में चतुर्विध संघ रूप लाखों स्त्री, पुरुष, चारों प्रकार के असंख्यात देव-देवियाँ और लाखों पशु पक्षी भी सुख से बैठकर भगवान का प्रभावशाली उपदेश प्रतिदिन 6-6 घड़ी (लगभग ढाई घंटे) चार बार सुनते हैं। जिसको सुनकर श्रोताओं का आध्यात्मिक अज्ञान दूर होता है और मोह-अन्धकार दूर होता है तथा धार्मिक भावना जाग्रत होती है। इन्द्रभूति गौतम-जैसे अश्रद्धालु व्यक्ति सत्धर्म के श्रद्धालु बन कर स्व-पर-कल्याण करते हैं। समस्त देशों में तीर्थंकर की वाणी से धर्म का प्रसार होता है, अधर्म स्वयमेव दब जाता है, तीर्थंकर की वाणी से ही द्वादशांग श्रुतज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

यदि भगवान महावीर आदि तीर्थंकर न होते तो आज ज्ञान-ज्योति जाग्रत करने वाले और धर्म-भावना प्रगट करने वाले चारों अनुयोग रूप शास्त्र कहाँ से आते?

कहान भाई आत्म-निरीक्षण करें कि असंख्य जनता का कल्याण करने वाली तीर्थंकर की वाणी ने उनका अपना निजी उपकार भी किया है या नहीं? मन्दिरों में जो तीर्थंकरों की पाषाण प्रतिमाओं की अर्हन्त भगवान के रूप में पूजा की जाती है, उसका मूल कारण वही उनकी विश्व कलयाणकारी दिव्यध्वनि है।

ऐसी दशा में पाठक महानुभाव विचार करें कि 'क्या तीर्थंकर प्रकृति कहान भाई के कथनानुसार अहितकर है? क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता?

पंचास्तिकाय में मंगलाचरण में श्री कुन्दकुन्द आचार्य जिनवाणी को तीनलोक की हितकारिणी बतलाते हैं-

'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं'

यानी- त्रिभुवन के लिये हितकारी, सुनने में मधुर और विशद वाणी वाले (जिनेन्द्र)

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भावपाहुड़ में लिखते हैं-

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं॥92॥

अर्थ- तीर्थंकर द्वारा भाषित, गणधर देव द्वारा ग्रंथित अतुल्य श्रुतज्ञान (जिनवाणी) को प्रतिदिन विशुद्ध भाव से पढ़ो।

जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य जिनवाणी को प्रतिदिन पढ़ने की प्रेरणा करते हैं तब कहान भाई जिनवाणी से किसी को लाभ न मिलने की बात कहते हैं।

इसके लिए भी आधार

तीर्थंकर की वाणी से किसी का अकल्याण-अहित नहीं होता, जो उसको हृदय से सुनता है उसका कल्याण ही होता है। अत: कहान भाई को

अपनी गलती स्वीकार करके उसका सुधार करना चाहिये था। पं. वंशीधरजी कलकत्ता का कर्त्तव्य था कि वे कहान भाई को इस गलत बात का सुधार करने का परामर्श देते। ऐसा न करके पं.वंशीधर जी ने उस गलती का भी पोषण करने के लिये बादरायण संबंध मिलाकर कुछ आधार दिये हैं, जिनमें प्राय: सबके सब कहान पंथ साहित्य के हैं। जो कि व्यर्थ हैं, क्योंकि गलती का सुधार गलत आधार से नहीं हुआ करता।

इष्टोपदेश का 35वाँ श्लोक उपदेश के रूप में है, वह सिद्धान्तरूप नहीं है। इष्टोपदेश गाथा 35 में परद्रव्य को निमित्त (सहकारी) कारण स्वीकार किया है, किन्तु कहान भाई तो जिन-वाणी को सहकारी कारण भी नहीं मानते। यदि श्री पूज्यपाद आचार्य सिद्धान्त देखना है तो इस विषय में उनका सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ देखिये। जिसमें प्रथम अध्याय के 'निर्देशस्वामित्व' आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए गत्यनुवादेन चारों गतियों में सम्यक्त्व उत्पन्न होने के अतएव अज्ञानी से ज्ञानी बनने के विभिन्न निमित्त कारणों का निर्देश है।

तथा अध्याय पाँच सूत्र 21 की टीका में कहा है-

''आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करते हैं।''

गुरु तथा पाठशाला आदि के निमित्त से प्रतिवर्ष लाखों करोड़ों अज्ञानी विद्यार्थी अपना अज्ञान दूर करके विद्वान बनते हैं। स्वयं पं. वंशीधर जी शास्त्री संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे, श्री पं. चैनसुखदासजी के अध्यापन से उनकी संस्कृत भाषा-विषयक अज्ञता दूर हुई।

तथाच- वीसों विद्वान कारण-वश विक्षिप्तचित्त होकर, 200 पुस्तकों के लेखक, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान महापंडित राहुल जी के समान अज्ञ भी बन जाते हैं। इस तरह निमित्त कारण अज्ञानी को ज्ञानी और ज्ञानी को अज्ञानी बना देता है। जिस तरह धर्मास्तिकाय का निमित्त ऊर्ध्व-गमन-स्वभावी, स्वतंत्र, अनन्त शक्ति-सम्पन्न मुक्त जीव को लोकशिखर पर ही रोक देता है, उससे आगे नहीं जाने देता।

अब पंडित वंशीधर जी इष्टोपदेश के 35 वें श्लोक का रहस्य ज्ञात करें।

2-भैया भगवतीदास जी ने निमित्त उपादान संवाद में जो कुछ लिखा है वह उपादान कारण की मुख्यता से उपदेश रूप लिखा है, वह कोई सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं है, वह तो एक तरह से उत्साह-वर्द्धक नीति-ग्रन्थ है। भैया भगवती दास जी उपादान कारण के एकान्तवादी नहीं थे। वे निमित्त कारण को भी कार्यसिद्धि में उपयोगी मानते थे, देखिये वे लिखते हैं-

''निश्चय ध्यान धरो वा प्रभु को, जो टारै भव भीरा रे।''

इसमें 'भव-पीर नाश करने वाले जिनेन्द्र प्रभु हैं' ऐसा बतलाया है। भैया भगवतीदास जी को भी तो आध्यात्मिक ग्रन्थों द्वारा ही आध्यात्मिक ज्ञान हुआ था। वे फिर तीर्थंकर की वाणी को अलाभकारी या अहितकारी कैसे बतलाते?

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय की प्रथम गाथा में कहा है कि 'जिनेन्द्रदेव की वाणी तीन लोक का हित करने वाली है' और इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है कि 'जिनवाणी लोकवर्ती समस्त जीव-समूह को निर्बाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली है, इसलिये हितकर है।' पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जिनवाणी पदार्थों का कथन करने वाली है और निर्वाण को देने वाली है। तब कहान भाई श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा श्री अमृतचन्द्र आचार्य की बात को भी नहीं मानते, अपितु उनके उपदेश के विरुद्ध ही कहान भाई का उपदेश है।

जिस जिनवाणी को लोक के मंगल, लोकोत्तम एवं शरणभूत माना गया है उस जिनवाणी को हितकारिणी न बताना खेद-जनक है।

इस तरह शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव की दशवीं बात कहानपंथ साहित्य की सब से अधिक गलत, सिद्धान्त-विरोधी बात है।

तीर्थंकर की वाणी न होती तो ये समयसार आदि ग्रन्थ कहाँ से आते?

ग्यारहवीं वार्ता

तीर्थक्षेत्र

जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिये जिस तरह हमारे मन्दिर और देव प्रतिमाएँ परम निमित्त हैं, उनके दर्शन पूजन वन्दन से जैन जनता की धार्मिक आस्था स्थिर रहती है, मानसिक शुद्धि जाग्रत होती रहती है। उसी तरह जैन संस्कृति की सुरक्षा में हामरे तीर्थ-स्थान भी बहुत उपयोगी हैं।

शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने के लिये ही पाषाण की प्रतिमा को अर्हन्त भगवान की भावना से वन्दना, प्रणाम किया जाता है, उसकी अष्टद्रव्य से पूजन तथा अभिषेक किया जाता है। इस व्यवहार से भक्त अपने भगवान के वीतराग गुण का ज्ञान, मनन, अनुभव करके अमूर्तिक, शुद्ध, शान्त, वीतराग आत्मा का अवलोकन उस प्रतिमा में करता है। इस प्रक्रिया में प्रगति करता हुआ 'दासोऽहम्' (हे भगवान् मैं आपका भक्त दास हूँ) का प्रार्थी भक्त कभी अपने एकाग्र ध्यान में 'सोऽहम्' का ध्याता बन जाता है। और 'सोऽहम्' (मैं भी वैसा परम शुद्ध भगवान् हूँ।) का ध्यान प्रगति करके कालान्तर में इस भक्त को भगवान् बना देता है।

आत्मा से परमात्मा बनने में ये बातें आवश्यक हैं- अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। बाजार में, सिनेमा घर में वीतराग भावना हृदय में नहीं आ सकती क्योंकि उन स्थानों का वातावरण रागभावना के अनुकूल होता है, वीतराग भावना के प्रतिकूल होता है। इसी कारण विरक्त मुनियों को ऐसे स्थानों पर रहना या ठहरना निषिद्ध है। मन्दिरों में वैसा रागद्वेष-मय वातावरण नहीं होता, अत: मंदिरों में राग-द्वेष वर्द्धक भावना प्राय: नहीं होती। वहाँ के वातावरण में वीतराग के गुणस्मरण करने की, स्वाध्याय करने की तथा शान्ति के साथ सामायिक करने की भावना होती है। इसी कारण धार्मिक स्त्री पुरुष प्रतिदिन मन्दिर में जाकर यथासम्भव धर्म-आराधना करते हैं।

ऐसी ही बात तीर्थ-क्षेत्रों के विषय में है। गृहस्थाश्रम के वातावरण में स्त्री पुरुषों का मन परिग्रह-संग्रह में, घर-व्यापार के विविध कार्यों में तथा

चिन्ताओं में एवं आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान में लगा रहता है। जब वे ही स्त्री पुरुष तीर्थ-यात्रा के लिये जाते हैं तब घर-बार-व्यापार, लेन-देन की चिन्ता से, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान से मुक्त हो जाते हैं, और जिस तीर्थ पर वन्दना के लिये वे जाते हैं वहाँ पर मुनीश्वरों ने तपश्चरण करके अपना आत्मा शुद्ध किया और अजर अमर होकर मुक्ति प्राप्त की।

गिरनार के वातावरण में भगवान नेमिनाथ का स्मरण आता है कि वे इसी पर्वत के निकटवर्ती जूनागढ़ में राजा उग्रसेन की सुन्दरी युवती गुणवती कन्या राजुल का पाणिग्रहण करने आये थे किन्तु अपनी वर-यात्रा के निमित्त से अर्थात् पशुशाला में बंधे हुए तिर्यञ्चों को समय पर आहार-पान न मिलने से उन्हें होने वाली वेदना रूप पुकार को सुनकर दु:खमय संसार की असारता का विचार करके संसारी जीवन से उनको वैराग्य हो गया और वे अपना दूल्हे का वेष बदल कर, उस तरुण वय में राज-भोग छोड़, महाव्रती नग्न साधु बन गये। उन्होंने तरुणवय में कामदेव पर ऐसी महाविजय प्राप्त की, कि राजुल का अनुनय, विनय, निवेदन, रुदन भी उन्हें कामासक्त न बना पाया।

राजुल भी उनके वैराग्य से इतनी प्रभावित हुई कि उसने भी अपना जीवन संसार के राग से मोड़कर आत्म-साधना में लगा दिया। नवयौवन की उद्दाम वासनाओं को परास्त करके अटल ब्रह्मचारिणी, संसार-विरक्त साध्वी (आर्यिका) बन गई। उसने भी अपना नर-भव सफल कर लिया।

सम्मेदशिखर का वातावरण तो उससे भी अधिक प्रभावशाली है, जहाँ पर वर्तमान चौबीसी के 20 तीर्थंकरों ने और असंख्य मुनियों ने अचल शुक्लध्यान से आत्म-साधना की और संसार के आवागमन से मुक्त होकर अविनाशी स्वतन्त्रता, परम शुद्धता प्राप्त की। प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के दु:षमा-सुषमा काल में समस्त तीर्थंकर यही से मुक्त होते हैं। इत्यादि विचार-धारा तथा स्वात्मचिन्तन सम्मेदशिखर के पवित्र वातावरण में जाग्रत होता है।

इसी प्रकार अन्य तीर्थ-क्षेत्रों के वातावरण में भी सांसारिक वासनाएं

अस्त होकर आत्म-शोधन की भावना जाग्रत होती है।

ऐसी दशा में श्री कहान भाई का अपनी पुस्तक मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण के दूसरे भाग पृष्ठ 170 पर यह लिखना कैसे ठीक माना जावे कि-

''सम्मेदशिखर गिरनार आदि के वातावरण से धर्म की रुचि होती है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।''

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़कर अच्छा या बुरा परिणमन होता है। अग्नि अन्य द्रव्य है और मनुष्य का सजीव शरीर अन्य द्रव्य है। उस पर-द्रव्य अग्नि को यदि मनुष्य के हाथ पर रख दिया जाये तो उस पर-द्रव्य के निमित्त से मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उसका हाथ जल जाता है। विष खाने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, औषधि खाने से रोग-शान्ति तथा भाव-शान्ति हो जाती है। मदिरा पान से ज्ञान विकृत हो जाता है।

इसी तरह पर-द्रव्य रूप क्षेत्र का भी प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। गर्मी में मरुस्थल (रेगिस्तान) का क्षेत्र अत्यन्त गर्म बालू का होने के कराण मनुष्य की शान्ति भङ्ग कर देता है और सघन वृक्ष की छाया का क्षेत्र मनुष्य को शान्ति प्रदान करता है। यानी- शान्ति अनुभव में निमित्त कारण बनता है। नरक में साता वेदनीय कर्म का उदय भी पर-मुख रूप उदय होकर दुःखदायी होता है और स्वर्ग के क्षेत्र में असाता वेदनीय कर्म का उदय भी परमुख उदय होकर सुखदायक बन जाता है।

इसी तरह चोर, लुच्चों, गुण्डों, डाकुओं का क्षेत्र भय उत्पत्ति का कारण होता है और सज्जनों का क्षेत्र सुख शान्ति का निमित्त कारण होता है। तदनुसार तीर्थों का क्षेत्र धार्मिक परिणाम उत्पन्न करने का निमित्त है, जबकि घर के क्षेत्र में वह प्रभाव नहीं होता।

श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार गाथा 255 में कहा है कि भूमि की विपरीतता से एक ही बीज की विपरीत निष्पत्ति होती है। कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्यम्भावी है।

इस तरह कार्यकारण भाव की मान्यता में मिथ्यात्व की क्या बात है?

श्री कहान भाई भी यदा कदा (जब तब) गिरनार, सम्मेद शिखर आदि तीर्थों की यात्रा को गये हैं, यदि उन तीर्थ-स्थानों के वातावरण में धार्मिक भाव उत्पन्न कराने की निमित्त-कारणता नहीं है तो उन्होंने यह प्रयास क्यों किया?

मन्दिर, स्वाध्यायशाला, तीर्थस्थान आदि यदि धर्मक्षेत्र न हो तो महान ज्ञानी ऋषि, मुनि, विद्वान क्यों वहां पर जाने का कष्ट करें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी गिरनार तीर्थ की यात्रा अपनी भाव-शुद्धि करने के लिए की थी। इसी तरह जिस प्रकार की भाव-शुद्धि श्रवण बेलगोला तीर्थ स्थान पर भगवान बाहुबली के दर्शन करने से होती है, उस तरह की भाव-शुद्धि अन्य स्थान पर नहीं होती। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का वातावरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

इस तरह तीर्थस्थानों के वातावरण में धर्म-रुचि उत्पन्न कराने का निमित्त न मानना गलत है। तीर्थ-यात्री के मन में तीर्थस्थान में जो धर्मरुचि होती है, उस धर्मरुचि में तीर्थस्थान निमित्त कारण है।

श्री पं. सदासुख जी कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका, बुधजन बारह भावना और समाधिमरण के वाक्य कहान पंथ की उक्त बात का समर्थन नहीं करते। उनका तो आशय केवल इतना है कि मनुष्य को धर्मलाभ तभी होता है जबकि तीर्थ-स्थान, मन्दिर आदि बाहरी निमित्त कारणों के साथ अन्तरंग निमित्त कारण भी क्रियाशील हों। जैसे कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में नियमसार गाथा 53 के अनुसार अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्त कारणों का होना आवश्यक बतलाया गया है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक 119 में पूजन का फल मोक्ष बतलाया है, उसकी टीका को श्री पं. सदासुखदास जी ने लिखा है-

''वीतराग सर्वज्ञ को आराधन करता तो कर्म के बन्ध का नाश करि स्वाधीन मोक्ष रूप आत्मा कूँ प्राप्त होता है। तातै संसार के समस्त दुःखों का नाश करने वाला जिनेन्द्र का पूजन ही करो।''

कोई लड़का पाठशाला में जाकर पढ़े नहीं, वहाँ खेलता कूदता रहे,

दंगा मचाता रहे तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पाठशाला का क्षेत्र ज्ञान-वृद्धि का निमित्त कारण नहीं है। हजारों लाखों करोड़ों विद्यार्थी पाठशालाओं स्कूलों कॉलेजों के निमित्त से विद्वान बनकर तैयार होते हैं। ऐसी ही बात तीर्थ-क्षेत्रों के विषय में है।

इस कारण कहानपंथ साहित्य की ग्यारहवीं बात भी कार्यकारण भाव के विरुद्ध होने से तथा आगम-विरुद्ध होने से गलत है। भक्ति-पाठों में तीर्थ क्षेत्रों का वन्दना-पाठ धार्मिक भावना जाग्रत करने के उद्देश्य से ही लिखा है।

बारहवीं वार्ता

जीओ और जीने दो

अनादि काल से संसारी जीव कर्मबन्धन से बँधा हुआ, आयु कर्म के अनुसार जन्म-मरण करता हुआ चला आ रहा है। वह आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है और आयु कर्म के क्षय से उस संसारी जीव का मरण होता है, ऐसा नियम है।

परन्तु इस नियम का एक अपवाद भी है, जिन मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़े आदि जीवों की आयु निकाचित (निरुपक्रम) नहीं होती उनकी मृत्यु आयु-कर्म समाप्त होने से भी पहले (आकाल मृत्यु) हो जाती है।

इस अपमृत्यु (अकाल मरण) का विधान भावपाहुड़ की गाथा 25-26-27 में तथा तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 सूत्र 53 की टीका राजवार्तिक आदि आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है।

अतएव तलवार, बन्दूक आदि अस्त्र-शस्त्रों द्वारा अन्य जीवों का तथा स्वयं अपना भी असमय में (आयु समाप्त होने से पहले) प्राणघात हो सकता है। उदाहरण स्वरूप जैसे- वन पर्वतों में सिंह, बाघ, चीते, भेड़िये आदि हिंसक जीव हिरण, नीलगाय, खरगोश आदि जीवों को मार कर खाते रहते हैं। मनुष्य प्रतिदिन लाखों करोड़ों मछलियों को, बूचड़खानों में गायों, बकरियों, सूअरों आदि को तथा कबूतरों आदि पक्षियों को बंदूक छुरी आदि से मार कर उनका मांस खाया करते हैं। असंख्य रेशम के कीड़े तथा अन्य प्रकार के कीड़े-

मकोड़े विविध प्रकार से मारे जाते हैं।

जब कि सभी मनुष्य, पशु पक्षी सुख से जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। क्योंकि मरने से प्रत्येक जीव को कष्ट होता है। उस कष्ट से बचाने के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान ने अन्य जीव का तथा अपना प्राणघात न करने का उपदेश दिया है। समस्त धर्म- ग्रन्थों में दया करने, अहिंसा पालन करने का उपदेश है। जैन धर्म तो 'अहिंसा परमो धर्मः' की ध्वजा फहराता है।

शास्त्रों में गृहस्थों और मुनियों को क्रम से अहिंसा अणुव्रत और अहिंसा महाव्रत आचरण करने का विधान है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड़ की 25 वीं गाथा में 'धम्मो दयाविसुद्धो' (यानी-धर्म दयामय होता है), मोक्षपाहुड़ की 90 वीं गाथा में 'हिंसारहिये धम्मे' (धर्म हिंसारहित अहिंसा रूप है) लिखा है। उसी का सारांश हिन्दी भाषा में कहा जाता है कि-

जीओ और जीने दो (Live and let live)

अर्थात् न तो तुम आत्महत्या (अपनी प्राणहिंसा) करो और न अन्य जीव की हिंसा करो।

इस पवित्र धर्म वाक्य के विषय में श्री कहान भाई अपनी पुस्तक मोक्ष-मार्ग किरण (दूसरा भाग) में पृष्ठ 184 पर लिखते हैं-

''जियो और जीने दो अज्ञानी कहते हैं।''

श्री कहान भाई का यह लिखना यदि ठीक हो तो इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि '**मरो या मारो**' ऐसा ज्ञानी कहते हैं। परन्तु ऐसी बात अभी तक किसी भी ज्ञानी ने नहीं कही। चरणानुयोग के जितने भी मूलाचार, अनगारधर्मामृत, रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, चारित्र सार, आचारसार, चारित्रपाहुड़, रयणसार, नियमसार, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, वसुनंदिश्रावकाचार, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, आदि श्रावक-चर्या एवं मुनिचर्या के आर्ष ग्रन्थ हैं उन सब में यही उपदेश आदि से अन्त तक भरा हुआ है कि 'न तो आत्मघात करो और न अन्य जीवों

का घात करो। अपनी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा मत होने दो तथा अन्य प्राणियों के द्रव्यप्राणों और भावप्राणों की रक्षा करो, स्वप्न में भी किसी को दु:ख न दो।'

इसी अहिंसा धर्म को अधिकाधिक सुरक्षित रखने के लिए गृहस्थों को अहिंसा के साथ-साथ सत्य आदि 4 अणुव्रतों, 3 गुणव्रतों, 4 शिक्षाव्रतों का आचरण करना बतलाया है और मुनियों के अहिंसा महाव्रत को पुष्ट करने के लिए ही अहिंसा के साथ सत्य आदि 4 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति के आचरण करने का विधान किया है।

ये समस्त ग्रन्थकर्त्ता स्वयं महान ज्ञानी तथा उच्च आचार-धारक थे ही, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने जो कुछ शास्त्रों में लिखा, वह गुरु-परम्परा से प्राप्त केवलज्ञानी जिनेन्द्र की वाणी के अनुसार ही लिखा है, अपने पास से कल्पना करके कुछ नहीं लिखा।

इसका अभिप्राय यही है कि '**जियो और जीने दो**' का उपदेश परम्परा से केवलज्ञानी अर्हन्त भगवान का दिया हुआ है और ज्ञानी आचार्यों ने उसे अपने ग्रन्थों में अच्छे विस्तार से लिखा है।

मद्यपान, मांस-भक्षण, मधु-भक्षण तथा अन्य अभक्ष्यों के भक्षण का त्याग भी अहिंसाव्रत के निर्दोष पालन करने के लिए ही बताया गया है। रात्रिभोजन त्याग, जलगालन का विधान भी '**जियो और जीने दो**' की भावना से किया गया है। पर्व दिनों में उपवास, एकाशन, सचित्तवस्तु त्याग, ब्रह्मचर्य पालन, आरम्भत्याग आदि का आचरण भी जीवों की रक्षा करने, अहिंसा को सम्पुष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है। इत्यादि।

प्राय: सब तरह से केवलज्ञानियों का उपदेश तथा द्वादशांग-वेत्ताओं एवं अन्य महान ज्ञानी ऋषियों महर्षियों का तो '**जिओ और जीने दो**' के अनुरूप ही उपदेश है। क्या ये सब श्री कहान भाई के कथन अनुसार अज्ञानी हैं?

तर्क

आपने अपने कथन को पुष्ट करते हुए लिखा है-

''किसी का जीवन किसी पर के आधीन (अधीन) नहीं है। शरीर या आयु से जीना यह आत्मा का जीवन नहीं है। अपनी पर्याय में पुण्य पाप के भाव स्वभाव की दृष्टिपूर्वक होने देना और ज्ञाता दृष्टा (द्रष्टा) रहना उसका नाम जीवन है।''

श्री कहान भाई अपने कथन में जो सबसे बड़ी गलती करते हैं वह यह है कि वे जो कुछ भी कहते हैं उसमें नय-विभाग नहीं करते। प्रत्येक बात में निश्चय नय का एकान्त रखते हैं, व्यवहार नय को सर्वथा छोड़ देते हैं, जबकि सिद्धांत: वे छोड़ नहीं सकते। निश्चय नय का विवेचन करना उनकी शक्ति से बाहर की चीज है। तथा जिनको वे उपदेश देते हैं वे एवं भाई जी उस निश्चय नय-अनुसार आचरण से योजनों दूर हैं। क्योंकि आत्मा जब निश्चय नय से बोलता नहीं है, शरीर बोलता है, तो निश्चय नय का वर्णन भी व्यवहार नय द्वारा ही श्री कहान भाई करते हैं। निश्चयनय से तो वे न एक अक्षर भी बोल सकते हैं और न एक अक्षर लिख सकते हैं।

ज्ञाता द्रष्टा

श्री कहान भाई अपने प्रवचन में जिस 'ज्ञाता और द्रष्टा' बनने का पद-पद पर उपदेश करते हैं, वह 'ज्ञाता द्रष्टा बनना' इस युग में केवल एक कहने तथा अपना मन प्रसन्न करने की चीज है, आचरण की चीज नहीं है।

जब तक मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म निर्मूल नाश न हो जावें तब तक कोई भी व्यक्ति ज्ञाता द्रष्टा नहीं बन सकता। मोहनीय कर्म का उदय कषाय भावों से सदा व्याकुल बनाये रहता है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म आत्मा को सच्चा ज्ञाता द्रष्टा बनने से रोके हुए हैं, अन्तराय कर्म ज्ञाता द्रष्टा बनने की तथा स्वरूप में स्थिर रहने की शक्ति को रोके हुए हैं, ऐसी दशा में संसारी, गृहस्थ जीव की कषायरंजित, अस्थिर, चंचल, निर्बल मनोवृत्ति में ज्ञाता द्रष्टा बनने की शक्ति कहाँ से आ सकती है? वीतराग भाव उसमें एक क्षण भी नहीं प्रगट हो सकता।

ऐसी दशा में कोई भी महान व्यक्ति (वह चाहे कोई मुनीश्वर हों या

स्वयं श्री कहान भाई हो एवं चाहे मुमुक्षु संज्ञा-अलंकृत उनके अनुयायी हों) सरागसम्यक्त्व और सराग-संयम-रूप पुण्य-भावों के अतिरिक्त उच्च भाव कर ही नहीं सकते। श्री कहान भाई तथा उनके कोई भी अनुयायी अव्रती होने के कारण '**सराग संयम**' के भाव भी नहीं कर सकते।

सराग सम्यक्त्व भी निश्चय नय तथा व्यवहार नय के मध्यस्थ व्यक्ति को होता है। निश्चय नय के एकान्तवादी या व्यवहारनय के एकान्तवादी के सराग सम्यक्त्व भी नहीं होता। शुद्ध सम्यक्त्व अपरनाम वीतराग सम्यक्त्व तो राग भाव के अभाव में दशवें गुणस्थान से ऊपर ही होता है।

ऐसी दशा में श्री कहान भाई प्रायः अपने प्रत्येक पैराग्राफ में जो पुण्य भाव को छोड़ देने का उपदेश देते हैं, सो क्या वे उस पुण्य-भाव से कभी एक क्षण भी स्वयं छूट सकते हैं? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर वे यदि आत्म-अवलोकन करके स्वच्छ हृदय से दें, तो सम्यग्दृष्टि के पुण्य को त्याज्य अपने मुख से वे कभी न कह सकेंगे। यों अपने मन की और अपने आत्मा की वास्तविक दशा को प्रच्छन्न रख कर मुख से चाहे कुछ भी कहें।

अतः ज्ञाता द्रष्टा बनना और पुण्य भाव का त्याग करना अभी तो बहुत दूर की बात है। इस संसारी दशा में जीव की स्थिति या स्थिरता को शरीर आयु कर्म (द्रव्य प्राणमयी) के साथ यथासम्भव दर्शन उपयोग, ज्ञान-उपयोग मान कर ही चलना होगा। जब संसारी जीव एक क्षण भी शरीर (पाँचों शरीरों में से यथासम्भव) और आयु कर्म के बिना जीवन की बात करना कोरा भ्रम है। समस्त आचार-व्यवस्था, हिंसा और अहिंसा की परिभाषा सशरीर संसारी जीव को लेकर ही तो है। यदि वास्तविक परिस्थिति के प्रतिकूल, व्यवहार नय का सत्तानाश करके संसारी जीव का जीवन शरीर और आयु से रहित मान लिया जाय, तो न कोई हिंसा रहती है और न कोई अहिंसा रहती है। फिर न दिव्यध्वनि आवश्यक है और न किसी ग्रन्थ के प्रवचन, उपदेश स्वाध्याय, देव दर्शन, पूजन की आवश्यकता है।

शरीर के बिना संसारी आत्मा भी संसार में अन्धा, बहरा, गुँगा,

लूला,, लंगड़ा, अमनस्क (असंज्ञी) होकर पत्थर की तरह जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा। जीव तो मुक्त होने के पश्चात् स्वतन्त्र होता है, संसारी-अवस्था में वह स्वाधीन नहीं। कीड़े-मकोड़े, जलचर, थलचर, नभचर जीवों का जीवन प्रतिदिन शिकारियों तथा माँस-भक्षियों द्वारा असमय में समाप्त होता रहता है।

यदि संसारी जीवों को अन्य जीव आयु-समाप्ति से पहले न मार सके, तो गौशाला, औषधालय,पिंजरापोल, चिकित्सालय (अस्पताल), औषध-उपचार आदि सब बातें व्यर्थ हो जावेंगी। छोटे बच्चे को उसकी माता दूध न पिलावे तो बच्चा जी नहीं सकता। ऐसे हजारों अवैध (विधवाओं तथा कुमारी कन्याओं से हराम से उत्पन्न हुए) बच्चे पाप छिपाने के लिए जहाँ-तहाँ छोड़ दिये जाते हैं, जो कि भूख, शीत, आतप आदि से मर जाते हैं। यदि वैसे छोड़े हुए बच्चे को कोई व्यक्ति दया करके पाल लेता है तो वह बच भी जाता है। इसलिये अन्य निर्बल जीवों को मारने या मृत्यु से बचाने का प्रयत्न किया जाता है।

आधार

मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृ. 332 पर पं टोडरमल जी ने मिथ्या दृष्टि को लक्ष्य करके मारने, बचाने का अध्यवसान (मिथ्यात्त्व रूप अभिमान कषाय) छुड़ाने के अभिप्राय से लिखा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधूरा ग्रन्थ है। उसमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन का प्रकरण लेकर लिखा गया है, वह भी पूर्ण नहीं हो सका। अतः उसमें आचरण-सम्बन्धी बातों पर ग्रन्थकार विवेचन नहीं करने पाये। यदि वे चारित्र का प्रकरण भी पूरा लिख देते तो मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ हिंसा-अहिंसा आदि के निर्णय के लिए रखना उचित था।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीका में गुणस्थान-क्रम से बन्ध-व्युच्छित्ति बताते हुए श्री पं. टोडरमल जी ने स्वयं पुण्य भाव वाले पाँचवें छठे गुणस्थान में कर्मों का संवर होना लिखा है। तदनुसार मोक्षमार्ग प्रकाशक के 7वें अध्याय में उन ही पं. टोडरमल जी ने जो अहिंसा आदि पाँचवें छठे गुणस्थान के चारित्र को केवल बंध का कारण कहा है उन दोनों कथनों में

परस्पर विरोध आता है। अत: मोक्षमार्ग प्रकाशक के कथन को चारित्र के विषय में साक्षी रूप से उपस्थित करना उचित नहीं।

तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक का दिया गया आधार मिथ्यादृष्टि जीव-सम्बन्धित उल्लेख का है, इस कारण भी उसे साक्षी में न रखना चाहिये।

इसके सिवाय पुण्य रूप सराग-संयम से श्री पं. टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में पुण्य भाव से संवर, निर्जरा होना भी पृ. 334 तथा 340 पर लिखा है-

ताका समाधान- यह भाव (पुण्य) मिश्ररूप है, किछू वीतराग भया है किछू सराग रहता है। जे अंश वीतराग भए तिन करि संवर है। अर जे अंस सराग रहे तिन करि बंध है॥ पृ.334॥

स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का भी अंश रहे, तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभ भाव है ताकरि बंध है ऐसा मिश्रभाव युगपत् हो हैं, तहाँ बंध वा निर्जरा दोऊ हों हैं ॥ पृ.340॥

2-समयसार की जो 254-255-256 नं. की गाथाओं का आधार दिया है, उस विषय में यह कहना है कि पं. वंशीधर जी के द्वारा उद्धृत समयसार के इस प्रमाण को यदि श्री कहान भाई हृदय से सत्य मानते हैं, तब उन्हें जीवों के सुखी दुखी होने में कर्म को निमित्त कारण मान लेना चाहिये जिसको कि वे मानते नहीं है, जैसा कि उनके इसी ट्रैक्ट के 14 वे कथन से स्पष्ट है।

जीवों के सुखी दु:खी होने से साता असाता वेदनीय कर्म का उदय अन्तरंग निमित्त कारण है, जिसका विधान अध्यवसान छुड़ाने के अभिप्राय से इन गाथाओं में ग्रन्थकार ने किया है। बहिरंग निमित्त कारण उपकारी दयालु मनुष्य (किसी जीव को मरते समय बचाने में) तथा दुष्ट शिकारी आदि (किसी जीव को सताने मारने आदि में) का उल्लेख इन गाथाओं में नहीं है। कर्मों का उदय व उदीरणा भी तो वाह्य द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव के निमित्त से होती है। (सर्वार्थसिद्धि 9-36)

समयसार गाथा 46 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है-

व्यवहार के बिना हिंसा का अभाव ठहरेगा और हिंसा के अभाव में बंध के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। क्योंकि निश्चय नय से शरीर से जीव को भिन्न मान लेने पर, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार, त्रस स्थावर जीवों को नि:शंकतया मसल देने से, कुचल देने में भी हिंसा नहीं होगी। बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। अत: यह मानना ही चाहिए कि त्रस स्थावर जीवों के मारने में हिंसा होती है।

प्रकरण अनुसार समयसार-कार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी चारित्र पाहुड़, नियमसार आदि ग्रन्थों में दया, अहिंसा के द्वारा जीवों की रक्षा करने का विधान किया ही है।

अत: ये दोनों आधार '**जियो और जीने दो**' के विरुद्ध नहीं हैं।

तेरहवीं वार्ता

मन वचन काय की क्रिया

संसारी जीव जिस तरह अनादि काल से कर्मबन्धन से बद्ध बना रहता है, इसी तरह व तैजस नामक एक सूक्ष्म शरीर से भी संयुक्त (सहित) रहता है। ये कार्माण और तैजस सूक्ष्म शरीर तो आत्मा के साथ सदा लगे ही रहते हैं। (अनादिसम्बन्धे च। तत्वार्थसूत्र 2-41)

किन्तु कर्म-उदय-वश संसारी जीव को जब नारकी या देव पर्याय मिलती है तब इस कार्माण तैजसमय संसारी जीव को रहने के लिये विविध प्रकार की (छोटा बड़ा, दृश्य अदृश्य, हल्का भारी आदि रूप) विक्रिया करने में समर्थ वैक्रियिक शरीर मिलता है और जब इसको मनुष्य तथा तिर्यञ्च (स्थावर, त्रस जीव रूप कीड़े मोड़े, जलचर, थलचर, नभचर, पशु पक्षियों की) पर्याय मिलती है, तब उस तैजस कार्माण सूक्ष्म शरीरमय जीव को रहने के लिये रक्त, हड्डी, मांस मय (स्थावर जीवों के शरीर में केवल रस होता है, रक्त, हड्डी, मांस नहीं होता) 'औदारिक' शरीर मिलता है।

इन औदारिक और वैक्रियिक शरीरों में जीव को आने जाने, करने

धरने रूप हाथ पर आदि काम करने वाले अंग उपांग वाला शरीर मिलता है, बोलने की शक्ति-सम्पन्न मुख-जीभ आदि अंग प्राप्त होते हैं और सोचने विचारने की शक्ति में सहायक कमलाकार द्रव्य मन मिलता है। इस तरह स्थावर तथा असैनी पंचेन्द्रिय तक तिर्यञ्च जीवों के, मनुष्यों, देवों तथा नारकी जीवों के मन, वचन और शरीर होता है।

आत्मा की योग शक्ति इन तीन साधनों से आत्मा को कम्पित करती रहती है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है-

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जाहु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥215॥

अर्थ- पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन वचन काय से युक्त जीव की कर्म-आस्रव की कारण-भूत जो शक्ति है, वह योग है।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं- 1.योग-शक्ति अशुद्ध आत्मा में है। 2. वह योग शक्ति पौद्गलिक मन वचन शरीर के अवलम्बन में कर्म-आस्रव का कार्य करती है।

संज्ञी जीव की शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रिया के कारण मन, वचन, काय को भी 'योग' (द्रव्य योग) कहा जाता है। अशुद्ध आत्मा की, शरीर द्वारा चलना फिरना आदि कार्य करने रूप, रसना (जीभ) द्वारा बोलने रूप एवं द्रव्यमान द्वारा विचार करने रूप जो निजी शक्ति है उसका नाम भावमन योग, भाववचन योग और भावकाय योग है।

इस तरह आत्मा को कम्पायमान करते हुए कर्म-आस्रव का करने वाला मन वचन काय योग पौद्गलिक भी है और आत्मीय (आत्मा से सम्बन्धित) भी है।

आत्मा के साथ जब तक मोहनीय कर्म रहता है तब तक आत्मा में विविध प्रकार की इच्छायें, सोच विचार, संकल्प विकल्प होते रहते हैं। तब ही

तक पौद्गलिक तीनों योग सक्रिय रहकर भावयोगों को कर्मास्रव में सहायक या आधार बने रहते हैं। जब मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तब द्रव्य मन योग रहता हुआ भी व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त भगवान मन द्वारा कुछ नहीं सोचते, न कोई इच्छा करते हैं किन्तु अपने केवलज्ञान द्वारा सब कुछ (त्रिलोकवर्ती त्रिकालीन समस्त पदार्थों को) स्पष्ट जानते हैं। परन्तु अनिच्छा-निरीह भाव से द्रव्य वचन योग द्वारा दिव्यध्वनि के रूप में बोलते हैं और द्रव्यकाय योग द्वारा (मेघों सदृश) अनिच्छा से देशान्तर में विहार, उठना, बैठना आदि क्रिया भी करते हैं। यानी- सयोग केवली के द्रव्ययोग चिकीर्षा (विचारने, बोलने की इच्छा) रूप नहीं होते। चौदहवें गुणस्थान में मन वचन काय की क्रिया भी नहीं होती। अत: वहाँ आस्रव भी नहीं होता।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र में श्री धर्मनाथ भगवान की स्तुति में अर्हन्त अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है-

कायवाङ्मनसां प्रवृत्तयो, नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।

हे भगवन्! आपके मन वचन की प्रवृत्ति चिकीर्षा (कुछ करने की इच्छा) रूप से नहीं होती थी।

इस विषय में कहानपंथ के प्रमुख श्री रामजी भाई दोशी मोक्षशास्त्र तीसरी आवृत्ति पृष्ठ 656 में तथा प्रथम आवृति में पृष्ठ 676 पर लिखते हैं कि-

''मन वचन काय की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।''

तत्त्वार्थसूत्र की यह टीका तत्त्वार्थसूत्र के अभिप्राय की पोषक श्री पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि आचार्यों की टीका के अनुसार होनी चाहिये। परन्तु श्री रामजी भाई माणेकचन्द दोशी एडवोकेट-कृत यह सोनगढ़ से प्रकाशित टीका अनेक स्थलों पर न तो उस मूल ग्रन्थ के अनुसार की गई है और न पूर्व आर्ष टीकाओं के अनुसार लिखी गई है इसमें अपनी कल्पना से विकृत अर्थ किया गया है। निश्चय नय का इसमें अपनी कल्पना से विकृत अर्थ किया गया है। निश्चय नय का आश्रय लेकर जैसी अनेक गलतियाँ

मूलग्रन्थ के विरुद्ध छहढाला तथा द्रव्यसंग्रह की सोनगढ़ी टीका में की हैं, वैसी ही गलतियाँ इस तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में भी हैं।

अभिप्राय रूप से पूर्वोक्त वाक्य तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र ''स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः'' की टीका में लिखा है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने छठे अध्याय के प्रथम सूत्र में कर्म के आस्रव का कारण निर्देश करते हुए लिखा है ''कायवाङ्मनःकर्म योगः''। जिसका सरल सीधा अर्थ है कि 'शरीर, वचन और मन की क्रिया द्वारा जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द होता है, वह योग है।' और दूसरे सूत्र (स आस्रवः) के अनुसार वह योग कर्म-आस्रव का कारण है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वामि आचार्य ने मन वचन काय की क्रिया को योग बतलाया है और उस योग को आस्रव का कारण बतलाया है। तीसरे सूत्र में उस योग के दो भेद (शुभ और अशुभ) बतलाये हैं। तदनन्तर चौथे सूत्र (सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्या-पथयोः) में आस्रव के दो भेद बतलाये हैं- 1. साम्परायिक, 2. ईर्यापथ। दशवें गुणस्थान तक कषायसहित जीवों के साम्परायिक आस्रव होता है। जिससे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग, चारों प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। और ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती कषायरहित आत्माओं के प्रकृति और प्रदेश रूप ईर्यापथ आस्रव होता है।

तत्त्वार्थसूत्र सार्थ जिस व्यक्ति ने पढ़ा है, वह इन चारों सूत्रों का यह उक्त अभिप्राय अच्छी तरह समझ सकता है।

तदनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्य (पौद्गलिक) मन, वचन, काय की क्रिया (योग) से तेरहवें गुणस्थान तक कर्म-आस्रव तथा कर्म-बन्ध भी हुआ करता है। पहले से दशवें गुणस्थान तक चारों प्रकार का बंध होता है और 11-12-13 वें गुणस्थान में प्रकृति, प्रदेश रूप दो प्रकार का कर्मबन्ध होता है।

ऐसी दशा में कहानपंथ-साहित्य का यह लिखना सिद्धान्त अनुसार

गलत है कि-

'मन वचन काय की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।' क्योंकि जहाँ तक मन, वचन, काय की क्रिया है, वहाँ तक कर्म-बन्ध होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय का प्रारम्भ करते हुए श्री उमास्वामि आचार्य लिखते हैं-

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः॥ 1॥

अर्थ- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्म-बन्ध के कारण हैं।

इसमें से 11-12-13 वे गुणस्थानों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय न होने से केवल द्रव्य मन वचन काय की क्रिया रूप योग के कारण साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य समयसार में लिखते हैं-

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा॥ 109॥

अर्थ- सामान्य रूप से कर्मबन्ध के कारण तथा कर्म के कर्त्ता मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग (मन वचन काय की क्रिया) ये चार हैं।

श्री वीरसेन आचार्य धवल सिद्धान्त (पुस्तक 7 पृष्ठ 9) में लिखते हैं-

मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगा बंधकारणाणि।

अथ- कर्म-बन्ध के कारण मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग (मन, वचन, काय की क्रिया) है।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि आचार्यों ने भी तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थों में कर्म-बन्ध का कारण योग (मन-वचन-काय की क्रिया) को भी बतलाया है।

इस आर्ष शास्त्रीय प्रमाणों से कहानपंथ सिद्धान्त की उक्त वार्ता असत्य प्रमाणित होती है।

आधार

समयसार की गाथा 109 में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कर्म-बन्ध के कारणों में कषाय की तरह योग (मन-वचन-काय की क्रिया) को भी बतलाया है। तदनुसार 11-12-13 वें गुणस्थान में साता वेदनीय कर्म का एक समयस्थितिक बन्ध केवल द्रव्य-मन, वचन, काय की क्रिया से होता है।

उसी समयसार में उन ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 237 से 241 तक की गाथाओं में कषायों की मुख्यता से स्थिति अनुभाव सहित कर्मबन्ध का वर्णन किया है। इस तरह यह केवल गौण मुख्य विवक्षा का भेद है, सिद्धान्त-भेद नहीं है। इन गाथाओं में आचार्य ने मिथ्यात्व, का भी नाम नहीं लिया, तो इससे क्या पं. वंशीधर जी यह अभिप्राय निकालेंगे कि श्री कुन्दकुन्द आचार्य मिथ्यात्व को कर्म-बन्ध का कारण नहीं मानते थे? अत: यह शास्त्राधार कहानपंथ के सिद्धान्त की गलत मान्यता का निराधार है।

श्री पं. टोडरमल जी ने मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा गुप्ति का निषेध किया है, सो ठीक है। द्रव्यलिङ्गी मुनि यदि मिथ्यादृष्टि हो, तो उसके यथार्थ गुप्ति नहीं होती। परन्तु छठे सातवें गुणस्थानीय भेद-विज्ञानी मुनि के तो गुप्ति यथार्थ होती है। पं. टोडरमल जी ने उस भावलिंगी मुनि की गुप्ति से कर्म-संवर होने का निषेध नहीं किया। और न उन्होंने केवल मन, वचन काय की क्रिया से 11-12-13 वें गुणस्थान में होने वाले साता वेदनीय कर्म के आस्रव बन्ध का निषेध किया है।

अत: मोक्षमार्ग प्रकाशक वास्तव में कहानपंथ के गलत सिद्धान्त का आधार नहीं बन सकता।

चौदहवीं वार्ता

आत्मा में विकार का कारण

जल स्वभाव से शीतल और द्रव (पतला, बहने वाला, लिक्विड) होता है। यदि उसको अन्य पदार्थ का संयोग न मिले तो वह अपने उसी शीतल, द्रव-स्वभाव में रहता है। जैसे गहरे स्रोत वाले कुओं में बना रहता है। परन्तु

उस जल को अग्नि का या प्रखर (बहुत तीव्र) सूर्य की किरणों का संयोग मिल जावे तो वह जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ कर गर्म हो जाता है। यदि उस गर्म जल से अग्नि या सूर्य की किरणों का संयोग हटा दिया जावे तो वही जल फिर ठंडा हो जाता है।

यदि उस जल से अग्नि का संयोग दूर न किया जावे तो वही जल अपनी जल पर्याय छोड़ कर भाप बनकर आकाश में ऊँचा उड़ जाता है और वहाँ पर बादल बन जाता है। गर्मियों के दिनों में छोटी नदियों का तथा तालाबों का जल भाप बन कर बादल बन जाता है, जो कि वर्षा ऋतु में पानी बन कर बरसता है।

यदि उस जल को अधिक ठंडक का संयोग मिले तो वही जल जम कर बर्फ बन जाता है। तब उसका द्रव-रूप (लिक्विड, पतला, बहने वाला), थोड़ा ठंडा, कड़ा रूप हो जाता है, जैसे कि हिमालय पर्वत तथा आल्प्स पर्वत की चोटियों पर हो होता है। बर्फ के कारखानों में ऐमोनिया गैस के संयोग से जल को बर्फ रूप में बनाया जाता है।

प्रवचनसार की गाथा 270 की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं-

''यत: परिणामस्वभावत्वेनात्मन: सप्तार्चि:संगतं तोयमिवावश्यम्भा विविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दु:खमोक्षार्थिना गुणै: समोऽधिको वा श्रमण: श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीय:।''

अर्थ- क्योंकि आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, इस कारण जैसे अग्नि के सम्पर्क से स्वभावत: शीतल जल अवश्य गर्म हो जाता है, उसी प्रकार लौकिक (असंयमी संसारी) मनुष्यों की संगति से संयमी साधु भी असंयमी हो जायेगा। इसलिए संसार दु:ख से छूटने के इच्छुक मुनि को अपने समान मुनि के साथ अथवा अपने से अधिक गुणी मुनि के साथ सदा रहना चाहिये।

इसी तरह, आत्मा स्वभाव से शान्त, शुद्ध, चैतन्य-आनन्द स्वरूप है,

यदि उसके साथ अन्य द्रव्य का बन्ध (परस्पर प्रवेशानुप्रवेश रूप गाढ़श्लेष) नहीं होता तो उसके शुद्ध स्वरूप में कोई विकार नहीं आता जैसे कि मुक्त जीव सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रहते हैं।

परन्तु संसारी जीव कभी अपने शुद्ध स्वरूप नहीं रहा क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दो के सूत्र 'अनादिसम्बन्धे च' 41 के अनुसार संसारी आत्मा को अनादि काल (अनन्त भूतकाल) से पौद्गलिक तैजस कार्माण शरीरों का सम्बन्ध (बन्ध) है। इस कारण संसारी आत्मा सदा से विकारी (मिश्रित, कर्म-संयुक्त) बना हुआ है। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, बल आदि गुण अशुद्ध-विकृत बने हुए हैं। उसकी स्वतंत्रता, शान्ति छिन्न-भिन्न हो गई है, जन्म, मरण के चक्र में पड़ कर वह चतुर्गति रूप पर्यायों में विविध प्रकार के शरीर धारण करके बहुरूपिया की तरह संसार में दीन, हीन बना हुआ घूम रहा है।

जैसे न्यारिया खोटे सोने को सुहागे के संयोग से आग पर गलाता है, फिर उसमें चांदी मिलाकर उसे तेजाब में डालता है, तब उस सोने में चांदी, ताम्बे, मैल आदि का मिश्रण दूर होकर सोने का शुद्ध स्वरूप हो जाता है। इसी तरह भव्य संसारी आत्मा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचार के प्रयोग से सम्यक् तप (आचार का ही एक विशेष भेद) में अपने आपको तपाता है तब उसका पर-द्रव्य-पौद्गलिक द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि), नोकर्म (औदारिक आदि शरीर) तथा भाव-कर्म (अपने विकृत भाव-राग द्वेष) का विकार दूर होकर शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, अजर, अमर, अजन्मा रूप प्रगट होता है।

संसारी आत्मा में विकृत होने की पर्याय-शक्ति है और कार्माण द्रव्य को आकर्षण करने की शक्ति (योग) है, और कार्माणद्रव्य में आकर्षित होने की शक्ति है। तदनुसार कार्माण स्कन्ध प्रति-समय आकर्षित होकर ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप बनते रहते हैं और आत्मा के भावों को विकृत किया करते हैं, उदय होकर (अपना फल देकर) प्रति समय झड़ते भी रहते हैं।

अभव्य संसारी जीव में शुद्ध होने की शक्ति स्वाभाविक रूप से नहीं होती, अत: वह बेचारा सदा संसारी ही बना रहता है, कभी शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, स्वतन्त्र नहीं हो पाता। जैसे बन्ध्या स्त्री कभी भी गर्भवती नहीं होती।

अभागे दूरातिदूर भव्य भी अनन्तों हैं जिन बेचारों को शुद्ध होने की शक्ति (भव्यता) रहते हुए भी योग्य बाह्य कारण नहीं मिलते, अत: अनन्त काल तक वे संसारी ही बने रहेंगे, जैसे कि सती बाल-विधवा कुलीन महिला गर्भवती होने की शक्ति-शालिनी होते हुए भी प्रति-प्रसंग न मिलने से गर्भवती नहीं हो पाती।

इस तरह मोहनीय आदि कर्मों के उदय से राग द्वेष आदि भाव कर्म होते हैं और भाव कर्मों से मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है, इस तरह बीज वृक्ष के समान द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा चलती रहती है।

आत्मा के कर्म-तन्त्र होकर पराधीनता से संसार-भ्रमण का यह संक्षेप सार है, जो कि विस्तार के साथ कसायपाहुड़, जयधवल, गोम्मटसार आदि आर्ष ग्रन्थों में लिखा हुआ है।

इस पर भी कहान भाई अपने समय-सार-प्रवचन भाग 1 पृष्ठ 69 पर लिखते हैं-

'आत्मा में कर्मों से विकार नहीं होता।'

इसके लिये आप हेतु देते हैं-

''जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते किन्तु स्वयं (आत्मा) अपने को भूलकर पुद्गल प्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बी भाव करता है।''

यद्यपि यह ठीक है कि यदि आत्मा के राग द्वेष आदि विकृत भाव न हों तो द्रव्यकर्म का बन्ध न हो, परन्तु इसके साथ यह भी तो सोलह आने सत्य बात है कि द्रव्यकर्म बलात् आत्मा को नरक निगोद आदि दुर्गतियों में भेजते हैं। ऐसा कोई भी वज्रभूर्ख जीव नहीं, जो स्वयं नरक निगोद में जाना चाहे। परन्तु कर्म जीव को बलात् (जबरदस्ती) धकेल कर नरक निगोद में ले जाते हैं। उन

पर्यायों के अनुसार आत्मा के अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान, श्वास के अठारहवें भाग में जन्म, मरण आदि ज्ञानावरण, आयु, अपर्याप्त नामकर्म, असाता वेदनीय आदि कर्मों के उदय से होते हैं।

आत्मा का राग द्वेष मोह आदि कोई भी विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्म के उदय के बिना नहीं होता, न हो सकता है। क्योंकि आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम आदि सभी भाव, कर्म के उदय से होने वाले औदयिक भाव हैं। तब यह कैसे हो सकता है कि-

'आत्मा में कर्मों से विकार नहीं होता।'

श्री पं. वंशीधरजी शास्त्री कलकत्ता भी इस सिद्धान्त-विरुद्ध गलत बात का समर्थन कर रहे हैं। इसमें आप 'माता के बन्ध्या' कहने के समान श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका का प्रमाण देते हैं-

औदयिका भावा: बन्धकारणम्॥ 1-45॥

जिसका सीधा अर्थ है- आत्मा के औदयिक (मोहनीय आदि कर्म के उदय से होने वाले) भाव बन्ध के कारण हैं।

श्री पं. वंशीधर जी ने 'औदयिक' शब्द का भाव या तो समझा नहीं है या समझ कर भी गलत समर्थन करने के आवेश में आप गलती कर गये हैं।

दूसरा आधार अपने पं. बनारसीदास जी कृत समयसार नाटक का दिया है। इसके लिये आप श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मूल समय-सार ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथाओं का अवलोकन करके अपनी भ्रान्ति दूर करने की कृपा करें।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो॥161॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो॥162॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो॥163॥

अर्थ- सम्यक्त्व गुण का घात मिथ्यात्व कर्म करता है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

ज्ञान का आवरण ज्ञानावरण कर्म करता है, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा अज्ञानी होता है, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिबन्ध कषाय नामक मोहनीय कर्म करता है। कषाय के उदय से आत्मा असंयमी होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

आऊदयेण जीवादि.................. ॥252॥

अर्थ- संसारी आत्मा आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है।

आउक्खयेण मरणं.................. ॥248॥

अर्थ- आयु कर्म के क्षय से आत्मा का मरण होता है।

कम्मं णामसमक्खं सभावमधअप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि॥117॥

(प्रवचनसार)

अर्थ- नाम कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का तिरस्कार करके जीव को मनुष्य तिर्यंच नारक अथवा देव बनाता है।

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि॥118॥

(प्रवचनसार)

अर्थ- मनुष्य नारक तिर्यंच और देव रूप जीव को वास्तव में नाम कर्म निष्पन्न करता है। वास्तव में वे अपने कर्म रूप से परिणमित होते हैं इसलिये उनको स्वभाव की उपलब्धि नहीं होती।

जब जिनेन्द्र भगवान पर, उनकी वाणी पर, श्री कुन्दकुन्द आचार्य पर और उनके समयसार, प्रवचनसार ग्रन्थ पर कहानपंथ के नेताओं को श्रद्धा है, उनके अनुयायियों को तथा श्री पं. वंशीधर जी को श्रद्धा है तो उसके विरुद्ध व गलत प्रतिपादन क्यों करते हैं?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री 1008 सीमन्धर तीर्थंकर की वाणी से उपलब्ध श्रुत के अनुसार कहते हैं कि आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, जन्म, मरण स्वयं अपनी योग्यता से (अकारण) नहीं होते, आत्मा में यह सब विकार मिथ्यात्व, ज्ञानावरण, चारित्र मोहनीय, आयु कर्म के उदय और अस्त होने के निमित्त से होते हैं। तब आप इस सत्य का क्यों अपलाप करते हैं?

इस तरह कहानपंथ सिद्धान्त की यह बात भी आगम-विरुद्ध है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है-

वंधं पडि एयत्तं, लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।

यानी- आत्मा और कर्म में बन्धन के कारण एकता है और लक्षण की अपेक्षा उन दोनों में अनेकता है।

श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश में कहते हैं-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥7॥

अर्थ- मोह से ढका हुआ ज्ञान अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं करता, जैसे नशीले कोदों के नशे से मनुष्य पदार्थों को ठीक नहीं जान पाता।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य समयसार में लिखते हैं-

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमई रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥276॥

अर्थ- इस प्रकार (स्फटिक मणि के समान) शुद्ध ज्ञानी स्वयं (अपने आप) राग द्वेष आदि रूप परिणमन नहीं करता किन्तु पर-पदार्थ रूप राग आदि कर्मों के संग से (प्रभाव से) राग द्वेष आदि रूप परिणमन करता है।

तीसरा आधार आपने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की 62 वीं गाथा का दिया है सो इसके उत्तर में पं. वंशीधर जी उन ही पंचास्तिकायकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य-रचित समयसार की निम्नलिखित गाथाओं का भी टीका सहित अवलोकन करें-

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥347॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥350॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होई ॥351॥
जह सिप्पि उ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य सो तम्मओ होइ ॥352॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होइ ॥353॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से।
तह जीवोविय कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णी से ॥354॥
जह चिट्ठ कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥355॥

अर्थ- जैसे सुनार आदि कारीगर सोने के आभूषण आदि करता है, यानी- बनाता है परन्तु व स्वयं आभूषण रूप नहीं हो जाता। जैसे सुनार हाथ आदि द्वारा हथौड़ा आदि औजारों से भूषण बनाता है और उस परिश्रम से दुःखी होता है तथा आभूषणों द्वारा धन आदि सुख सामग्री पाकर सुखमय फल भोगता है। परन्तु वह उन हथौड़ा आदि रूप नहीं हो जाता। इसलिये वह निमित्त नैमित्तक रूप से भिन्न कर्त्ता, कर्म, करण, भोक्ता होता है, इसी तरह जीव भी पुण्य पाप रूप पुद्गल कर्मों को करता है, मन वचन काय रूप करणों द्वारा पौद्गलिक मन वचन काय रूप करणों को ग्रहण करता है और पौद्गलिक कर्मों के फलों को भोगता है, परन्तु वह उन पौद्गलिक कारणों, कर्मों रूप नहीं हो जाता। निमित्त नैमित्तिक भाव से कर्त्ता, कर्म, करण, भोक्ता, भोग्य व्यवहार है।

जिस तरह सुनार अपने आत्म-परिणामों का कर्त्ता, कर्म, करण

भोक्ता है अत: उन परिणामों से अनन्य है इसी तरह आत्मा भी अपने परिणामों का कर्त्ता, कर्म, करण भोक्ता आदि है, अत: परिणामों से अनन्य है।

इस तरह श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में व्यवहार नय से आत्मा में पर-पदार्थ रूप भी कर्त्ता, कर्म, करण आदि छह कारक बतलाये हैं और निश्चय नय से अपने आत्मा में भी अनन्य रूप से समस्त कारकों का निरूपण किया है।

इसी प्रकार श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने भी द्रव्यसंग्रह में-

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता, ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्मणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥8॥
ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
चेदणकम्माणादा, चेदणभावं खु आदस्स॥9॥

गाथाओं द्वारा उन ही भिन्न तथा अभिन्न कारकों का समर्थन किया है।

जिस तरह निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा में छहों कारक अभिन्न अनन्य रूप से सिद्ध होते हैं और वे उस दृष्टि से यथार्थ हैं। ठीक, उसी तरह व्यवहार नय से आत्मा भिन्न छह कारकों के रूप में भी कर्त्ता आदि है और वह भी यथार्थ है।

दिव्य-ध्वनि पर-पदार्थ है परन्तु शुद्ध बुद्ध अर्हन्त भगवान उसके अनिच्छा रूप में भी कर्त्ता हैं ही।

श्री कहान भाई समयसार-प्रवचन के तथा पं. वंशीधर जी उस ट्रैक्ट के कर्त्ता हैं या नहीं?

इस तरह यह तीसरा आधार भी निराधार है। अत: कहानपंथ की मान्यता आगम-विरुद्ध है।

सोलहवीं वार्ता

रत्नत्रय

आत्मा को कर्म-बन्धन से जकड़ कर संसार में भ्रमण कराने वाले भावकर्म मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। आत्मा जब अपने पुरुषार्थ से मोहनीय कर्म पर यथा सम्भव विजय प्राप्त करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करता है। तब यथासम्भव गुणस्थान क्रम से अपने पूर्वबद्ध कर्मों की अविपाक निर्जरा करना प्रारम्भ कर देता है तथा मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम से होने वाले कर्म-आस्रव पर यथासम्भव प्रतिबन्ध लगाकर कर्मसंवर करना प्रारम्भ कर देता है।

सत् श्रद्धान, सत्ज्ञान और सच्चचारित्र आत्मा के महान गुण हैं, धर्म रूप हैं (सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदु: रत्न क.श्रा.) तथा आत्मा का परम अभ्युदय करने वाले हैं, आत्म-शुद्धि करने वाले हैं, अत: इनको 'रत्नत्रय' यानी- आत्मा के तीन रत्न कहा जाता है। इसी रत्नत्रय को 'मोक्षमार्ग' भी कहते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि होते ही मोक्ष का मार्ग (रास्ता); कर्मों का संवर और निर्जरा प्रारम्भ हो जाने के कारण, प्रारम्भ हो जाता है।

यह मोक्षमार्ग समस्त आर्ष ग्रन्थों में दो प्रकार का बतलाया गया है- 1. निश्चय मोक्षमार्ग, 2. व्यवहार मोक्षमार्ग।

मोहनीय कर्म के कुछ भाग के उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने से और कुछ भाग के विद्यमान रहने से आत्मा में जो सराग सम्यक्दर्शन, सराग सम्यग्ज्ञान, सराग सम्यक्चारित्र होता है, वह पांचवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक का सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है। (चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व और सम्यक्ज्ञान होता है पांचवे गुणस्थान सम्यक्त्व, ज्ञान और देश चारित्र होता है। छठे गुण-स्थान से सम्यक्त्व, ज्ञान के साथ सकल चारित्र यानी-महाव्रती चारित्र प्रारम्भ हो जाता है)।

दशवें गुणस्थान का सूक्ष्म राग रूप सूक्ष्म संज्वलन लोभ जब अस्त हो

जाता है तो वही व्यवहार मोक्षमार्ग ग्यारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त्त के लिए उपशान्तमोह और बारहवें क्षीण-कषाय गुणस्थान में सदा के लिए 'वीतराग मोक्षमार्ग' (सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र) हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान में केवल-ज्ञान का उदय हो जाने पर आत्मा के तीनों रत्न सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्ण हो जाते हैं।

कुछ आचार्यों के मत से व्यक्त राग की अपेक्षा पांचवें, छठे, एवं गुप्ति रहित स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान का क्रमश: एक देश (श्रावक का) तथा सकलदेश (मुनिका) चारित्र सराग चारित्र यानी-व्यवहार-चारित्र है। अव्यक्त राग की अपेक्षा त्रयगुप्तियों सहित सातवें और आठवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग रूप निश्चय चारित्र प्रारम्भ हो जाता है, जो कि गुणस्थान-क्रम से बढ़ता हुआ क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। तेरहवें सयोग-केवली गुणस्थान में ज्ञान पूर्ण हो जाने से रत्नत्रय पूर्ण हो जाता है।

छठे गुणस्थान से आगे आयु कर्म की उदीरणा नहीं होती। तदनुसार अवशिष्ट आयु तक पूर्ण रत्नत्रयधारी आत्मा (अर्हन्त) को तेरहवें गुणस्थान में रहना पड़ता है। आयु के अन्तिम काल में पांच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण समय तक योग-निरोध करके चौदहवाँ गुणस्थान होता हे, तदनन्तर सर्व कर्म, नोकर्म से मुक्त होकर आत्मा सिद्ध बन जाता है।

इस तरह व्यवहार (रत्नत्रय) साधन है और निश्चय रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) साध्य है। साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इस नियम के अनुसार व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और निश्चय रत्नत्रय उसके पश्चात् होता है।

यदि व्यवहार रत्नत्रयधारी मुनि उस भव में सातवें गुणस्थान से क्षपक श्रेणी द्वारा या उपशम श्रेणी द्वारा ऊपर न चढ़ सके, शुक्ल-ध्यान उसके न हो पावे, धर्मध्यान तक ही रहे, तो उस भव में व्यवहार रत्नत्रय ही बना रहेगा, निश्चय रत्नत्रय उसके न होगा। निश्चय रत्नत्रय अन्य किसी भव में उसके होगा। तब वह मुक्त होगा।

इस आर्ष सिद्धान्त के विरुद्ध कहान पंथ से प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र, द्रव्यसंग्रह, छहढाला की टीका आदि साहित्य में व्यवहार रत्नत्रय को निश्चय रत्नत्रय का साधन नहीं बतलाया गया है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार के उपसंहार में लिखा है-

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित:।
तत्राद्य: साध्यरूप: स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ 2॥

अर्थ- मोक्षमार्ग दो प्रकार का है- 1. निश्चय मोक्षमार्ग, 2. व्यवहार मोक्षमार्ग। उनमें से निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

छहढाला में पं. दौलतराम जी ने लिखा है-

सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण शिव-मग सो दुविधि विचारो।
जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह मोक्षमार्ग है। वह मोक्षमार्ग दो प्रकार का है- निश्चय और व्यवहार। जो सत्यार्थ रूप है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो उस निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है सो व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में लिखा है-

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति॥ 160॥

अर्थ- धर्म आदि द्रव्यों (तत्त्वों पदार्थों आदि) का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, अंग पूर्व आदि का बोध होना सम्यग्ज्ञान है और तप संयम आदि का करना सम्यक्चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है-

'व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्ग: .... निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते इति।

अर्थ- व्यवहार नय का आश्रय करके यह (व्यवहार) मोक्षमार्ग

निश्चय मोक्षमार्ग का साधन बनता है।

तदनन्तर लिखा है–

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥ 161 ॥

अर्थ–निश्चय नय से उन तीनों (सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र) से सम्पन्न आत्मा ही मोक्षमार्ग है, जो (निश्चय मोक्षमार्गी) आत्मा न कुछ करता है, न छोड़ता है।

इस गाथा की टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं–

'अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति।'

अर्थ– इसलिए निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में क्रम से साध्य-साधन भाव अच्छी तरह से प्राप्त होता है। यानी–निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

पंचास्तिकाय गाथा 159 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है–

''निश्चयव्यवहारयोः साध्य–साधनभावत्वात्
सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।''

अर्थ– निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का सुवर्ण तथा सुवर्ण-पाषाण के समान साध्य साधन भाव है।

द्रव्य संग्रह गाथा 39 की टीका में भी लिखा है–

धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः सुवर्णस्थानीयनिर्विकार-स्वोपलब्धि साध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः।

अर्थ– सुवर्णपाषाण में उस को शुद्ध करने के लिये अग्नि के समान व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है और अग्नि-प्रयोग से पत्थर में से निकाले गये शुद्ध सुवर्ण के समान निर्विकार स्व-आत्मा की उपलब्धि रूप साध्य निश्चय रत्नत्रय उससे पीछे होता है।

कहान पंथ-साहित्य

कहान पंथ साहित्य की मान्यता उक्त आर्ष-सिद्धान्त के विपरीत है। सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्ष-शास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) की टीका के पृष्ठ 123 पर लिखा है–

''प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन का अभाव होता है। इसलिए यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का वास्तव में निश्चय सम्यग्दर्शन साधक नहीं है, तथापि उसे भूतनैगम नय से साधक कहा जाता है। अर्थात् पहले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शन के प्रकट होते समय अभाव रूप होता है तब पूर्व की सविकल्प श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं किन्तु उसका अभाव कारण है।''

कहानपंथ साहित्य का यह लिखना अपनी निजी निराधार गलत कल्पना है जिसका कोई आगम ग्रन्थ समर्थन नहीं करता।

जब पूर्वोक्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य, श्री अमृचन्द्र सूरि, द्रव्य-संग्रह के टीकाकार, आदि निश्चय रत्नत्रय का साधन; व्यवहार रत्नत्रय को स्पष्ट बतलाते हैं, उसके लिये सुवर्ण-पाषाण और सुवर्ण का दृष्टान्त देते हैं, तब कहान पंथ का साहित्य कहता है कि 'नहीं, व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।'

अपनी आगम-विरुद्ध मान्यता के लिए कहान पंथ के टीकाकार लिखते हैं–

''व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण नहीं है किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन में उसका (व्यवहार सम्यग्दर्शन का) अभाव कारण है।'

पूर्व पर्याय का नाश होकर ही उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है, यह कार्य-कारण भाव का मूल नियम है। तदनुसार ही समस्त लौकिक तथा अध्यात्मिक कार्य कारण होते हैं।

आटा रोटी का कारण है, किशोर-अवस्था यौवन-अवस्था का कारण है, बीज अपने वृक्ष का कारण है, अर्हन्त अवस्था सिद्ध-अवस्था का कारण है। कारण-समयसार कार्य-समयसार का कारण है। ये समस्त कार्य-कारण-भाव पूर्व उत्तर-पर्याय रूप हैं।

आटा पर्याय का नाश होकर ही रोटी बनती है, तो क्या आटा रोटी का कारण नहीं है? किशोर-अवस्था (15-16 वर्ष की आयु) के समाप्त होने पर यौवन अवस्था आती है, तो क्या किशोरअवस्था यौवन का कारण नहीं है? बीज गल कर अंकुर रूप बनता है, तो क्या बीज अंकुर का कारण नहीं है? अर्हन्त अवस्था, सिद्ध अवस्था का कारण नहीं है? कारण समयसार पर्याय का व्यय होकर कार्य-समय सार पर्याय का उत्पाद होता है तो क्या कारण-समयसार, कार्य समयसार का कारण नहीं है?

इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर सर्वजन-सम्मत यही कि आटा, रोटी का कारण है और अर्हन्त-पर्याय सिद्ध-पर्याय का कारण है, कारण समयसार कार्य-समयसार का कारण है।

कार्योत्पादः क्षयो हेतोः- कार्य का उत्पाद पूर्वपर्याय के यानी उपादान कारण के क्षय से होता है।

इससे, 'व्यवहार-सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्व का साधन या साधक नहीं है,' यह आगम-विरुद्ध मान्यता कहाँ प्रमाणित होती है?

वृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा 22 की टीका में लिखा है-

केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो,
निर्विकल्पसमाधिरूपकारण-समयसारस्य विनाशः।

अर्थ- केवलज्ञान आदि प्रगट होने से (अर्हन्त रूप होने से) कार्य समयसार का उत्पाद होता है और निर्विकल्पसमाधिरूप कारण समयसार का विनाश होता है।

आधार

कहान पंथ की गलत मान्यता के समर्थन में जो शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं, उनसे भी उस मान्यता की पुष्टि नहीं होती। देखिये-

1- परमात्म प्रकाश- 2-14 गाथा की टीका में स्पष्ट लिखा है 'भूतनैगमनयेन परम्परया भवति।' यानी- भूतनैगम नय की अपेक्षा से व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चय-मोक्षमार्ग का साधक है। गाथा तथा टीका में व्यवहार रत्नत्रय को परम्परा से मोक्ष कारण कहा है।

पं. वंशीधर जी यह बतलावें कि क्या व्यवहार-मोक्षमार्ग के पश्चात् निश्चय मोक्षमार्ग नहीं होता? क्या उनके बीच में कुछ और भी दशा होती है?

2-मोक्षमार्गप्रकाशक का जो प्रमाण-उल्लेख किया है, उसको गलत रूप से रक्खा है। उसके दो पंक्ति आगे श्री पं. टोडरमल जी ने पंक्ति 16 में स्पष्ट लिखा है-

'सो महाव्रतादि भए ही वीतराग चारित्र हो है।'

मोक्षमार्गप्रकाशक के इस वाक्य से कहानपंथ सिद्धान्त की मान्यता का खंडन होता है।' क्योंकि 'महाव्रतादि होने के पश्चात् ही वीतराग चारित्र होता है।' यह आगमानुसार बात मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट लिखी है।

3- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 376 का अभिप्राय भी कहानपंथ-साहित्य का समर्थक नहीं है। वहाँ स्पष्ट लिखा है-

''नीचली दशा विषैं केई जीवनिकैं शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोगकों मोक्षमार्ग कह्या है।''

(शुभोपयोग शुद्धोपयोग की मिश्रित दशा निश्चय-मोक्षमार्ग का कारण है ही।)

मोक्षमार्गप्रकाशक के इन वाक्यों का अभिप्राय कहानपंथ-सिद्धान्त का खंडन करता है।

''इतना है-शुभोपयोग भये शुद्धोपयोग का यत्न करै तो होय जाये। सम्यग्दृष्टि कैं शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगकों शुद्धोपयोग का कारण भी किहिये है।'' पृष्ठ 377

4- द्वादशानुप्रेक्षा की गाथा 59 में व्यवहार, निश्चय-मोक्षमार्ग के साधन-साध्य भाव के विरुद्ध कुछ भी कथन नहीं है। इससे कहानपंथ सिद्धांत का रंचमात्र भी पोषण नहीं होता।

5- प्रवचनसार गाथा 225 में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे निश्चय, व्यवहार-मोक्षमार्ग के साध्य साधन भाव पर प्रहार होता हो।

इस गाथा की श्री अमृचन्द्र सूरि कृत टीका में स्पष्ट लिखा है-

''शुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः। ततः शुभोपयोगिनोपि धर्म सद्भावाद् भवेयुःश्रमण।''

अर्थ- शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है, इस कारण शुभोपयोगी भी धर्म के सद्भाव से श्रमण होते हैं।

इससे तो उलटा कहानपंथ सिद्धान्त का खण्डन होता है क्योंकि कहानपंथ के नेता शुभोपयोग को धर्म रूप ही नहीं मानते?

प्रवचनसार की गाथा 11 में तथा उसकी टीका में भी शुभोपयोगी को धर्मात्मा कहा है।

6- पंचास्तिकाय की गाथा 167 तथा 168 में एवं उसकी टीका में राग का सूक्ष्म अंश भी शुद्ध आत्म-स्वरूप का घातक कहा है। सो ठीक है सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान तक आत्मा की पूर्ण शुद्धता नहीं होती।

पंचास्तिकाय गाथा 167 की तात्पर्य वृत्ति टीका में लिखा है-

''ततः कारणात्पूर्वं विषयानुरागं त्यक्त्वा तदनन्तरं गुण-स्थान-सोपानक्रमेण रागादिरहितनिजशुद्धात्मनि स्थित्वा चार्हदादिविषयेपि रागस्त्याज्य इत्यभिप्रायः।''

इसमें तो यह बतलाया है कि प्रथम विषयानुराग को छोड़कर अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर गुणस्थान अनुक्रम से रागादि से रहित अपने आत्मा में स्थित होकर अरहन्त के प्रति भी राग त्याज्य है। इसमें तो छठे सातवें गुणस्थान क्रम से व्यवहार रत्नत्रय द्वारा निश्चय रत्नत्रय प्राप्त करने का विधान है।

7- मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ 376-377 का कथन सम्यग्दृष्टि के

शुभोपयोग को मोक्षमार्ग स्पष्ट रूप से बतला रहा है। इससे कहानपंथ सिद्धांत का खंडन होता है।

8- पद्मनन्दि पंचविंशतिका अध्याय 1 श्लोक 81 में सम्यग्दृष्टि के रत्नत्रय को संसार-विध्वंसक और बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी) के बाहरी रत्नत्रय को शुभ अशुभ कर्म-बन्ध का कारण बतलाया है, सो ठीक है।

सम्यग्दृष्टि का व्यवहार-रत्नत्रय ही निश्चय-रत्नत्रय का साधन बतलाया गया है। बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) का बाहरी (दिखावटी) रत्नत्रय निश्चय-रत्नत्रय का साधन नहीं होता।

9- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 334 तथा 340 के निम्नलिखित वाक्यों पर संभवतः पं. वंशीधर जी ने ध्यान नहीं दिया।

''यह भाव मिश्र रूप है। किछू वीतराग भाग है, किछू सराग रह्या है। जे अंश वीतराग भए 'तिनकरि संवर' है अर जे अंश सराग रहे तिन करि 'बंध' है। 'सो एक भाव तैं दोय कार्य बने।'' (334)

''स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का भी अंश रहे, 'तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभ भाव है 'ताकरि बंध है।' ऐसा मिश्र भाव युगपत् है, 'तहाँ बन्ध वा निर्जरा दोऊ' है।'' (340)

इस विवरण से तो उस कहानपंथ सिद्धान्त का खण्डन होता है कि 'पाँचवें, छठे गुणस्थान के अणुव्रती महाव्रती व्यवहार चारित्र से केवल आस्रव होता है, संवर निर्जरा नहीं होती।''

जबकि श्री पं. टोडरमल जी ने व्यवहार चारित्र से संवर निर्जरा होना भी स्पष्ट लिखा है।

अतः ये 9 आधार साहित्य के समर्थक नहीं हैं।

इक्कीसवीं वार्ता

महाव्रतों से संवर भी होता है

आत्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म को पूर्ण शुद्ध निरञ्जन, निर्विकार, अजर, अमर, अजन्मा, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा बनाने वाले जगत्पूज्य महत्तम (सर्व श्रेष्ठ) व्यक्ति को जिनेन्द्र कहते हैं। उस जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले स्त्री पुरुष 'जैन' कहलाते हैं।

सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्त होकर जिनेन्द्र भगवान के मार्ग का निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) तपस्वी के रूप में अनुचरण करने वाले 'जैन गुरु' होते हैं। जिनेन्द्र भगवान की वाणी के अनुसार ऋषि मुनि आचार्यों द्वारा लिखे गये प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप ग्रन्थ 'जिनवाणी' कहे जाते हैं।

जो व्यक्ति जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी पर शुद्ध अटल श्रद्धा रख कर उनकी उपासना करता है, वह 'जैन' कहलाता है। शास्त्रीय भाषा में उसको 'सम्यग्दृष्टि' कहते हैं। श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में धर्म और धर्मात्मा का लक्षण निर्देश करते हुए लिखा है-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः॥3॥

अर्थ- सत्श्रद्धा, सत् ज्ञान और सत् चारित्र 'धर्म' है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र धर्म नहीं होते, वे संसार में भ्रमण कराने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण संक्षेप से बतलाते हुए लिखा है-

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांग, सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥4॥

अर्थ-परम आदर्श जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ तपस्वी का निर्दोष (त्रिमूढ़तादि 25 दोष रहित तथा अष्ट अंग सहित) श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस लक्षण के अनुसार जो स्त्री पुरुष कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु की श्रद्धा, उपासना का परित्याग करके श्री जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु को अपना आराध्य, उपास्य, श्रद्धेय, पूज्य देव, शास्त्र, गुरु अन्तरंग बहिरंग से मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है। वह अपने आपको जिनेन्द्र भगवान के समान शुद्ध परमात्मा बनने के पवित्र उद्देश्य से जैन धर्म का आराधक बनता है।

श्रद्धा और ज्ञान का तब तक कुछ विशेष मूल्य नहीं, जब तक कि आत्म-शुद्धि के लिए क्रियात्मक पग न उठाया जावे। तदनुसार पतन कराने वाली प्रवृत्तियों-पाप, दुराचार, दुर्व्यसनों से यथा सम्भव निवृत्ति होना एवं अपनी शक्ति-अनुसार व्रत, तप, त्याग, संयम को ग्रहण करना जैन का कर्त्तव्य है, एवं मनुष्यभव का उपादेय तत्त्व है।

धर्माचरण का फल

जिस समय कोई व्यक्ति शुद्ध हृदय से सत् देव, गुरु, शास्त्र का उपासक बन कर कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की श्रद्धा का परित्याग करता है तब से ही वह संसार-पथ से विमुख होकर मुक्ति-पथ पर चल पड़ता है।

उसकी उग्र प्रवृत्ति से संसार-भ्रमण के मूल कारण मिथ्यात्व, नरक आयु आदि 16 कर्म प्रकृतियों का संवर हो जाता है और असंख्यात गुणी अविपाक (बिना फल दिये) कर्म-निर्जरा पहले अन्तर्मुहूर्त में होती है तथा अपनी राग-प्रवृत्ति के कारण उसके अनेक शुभ कर्मों का आस्रव होने लगता है।

वही सम्यग्दृष्टि जब गृहस्थाश्रम में रहता हुआ अपनीशक्ति अनुसार अणुव्रती चारित्र (ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी प्रतिमा) को ग्रहण करके और अधिक उच्च प्रवृत्ति मार्ग पर प्रगति करता है, तब उसके पाँचवां गुणस्थान होता है। उसके उस चारित्र-वृद्धि के कारण चौथे गुणस्थान के असंयत सम्यग्दृष्टि से भी असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा प्रतिसमय होती है तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वज्रवृषभ नाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और

मनुष्य आयु इन दश कर्म प्रकृतियों का संवर होता है। यानी इनका आस्रव-बन्ध होना रुक जाता है एवं पहले से भी अच्छा एवं शुभ कर्म-आस्रव शुभ कर्मबन्ध होता है। जिसमें स्थिति हीन और अनुभाग अधिक होता है।

जब कोई भव्य पुरुष संसार से विरक्त होकर, गृहस्थाश्रम से बाहर निकल कर अव्रतों (हिंसा आदि पाँच पापों) का पूर्ण परित्याग करके मुनि दीक्षा ग्रहण करता है, तब उसके महाव्रती सकल चारित्र होता है।

महाव्रतों के विषय में श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखते हैं-

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि, महाव्रतानीति सतां मतानि॥181॥

अर्थ- महत्त्व के कारण होने से गुणी पुरुष महाव्रतों का आश्रय लेते हैं, यानी- महाव्रत आचरण करते हैं। देवगण भी महाव्रतों (महाव्रती मुनियों को) को महान (महत्वशाली) समझ कर नमस्कार करते हैं। सन्त जन महाव्रतों को महान सुख और महान ज्ञान का कारण मानते हैं।

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाध्यन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मात् महाव्रतानीत्यतस्तानि॥पृ. 188॥

अर्थ- तीर्थङ्कर आदि मुक्तिगामी महान पुरुष इनका आचरण करते हैं, महान अर्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) को ये सिद्ध करते हैं, स्वयं भी ये महान हैं, अतः महाव्रती कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि के जिनेन्द्र देव की वन्दना, स्तुति करते समय, प्रतिक्रमण, शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्र-रचना करते समय तथा भोजन-चर्या, शयन, विहार करते समय और धर्म-ध्यान करते समय छठा, सातवां गुणस्थान होता है।

छठे गुणस्थान में पाँचवे गुणस्थान से भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा प्रति समय होती है तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का संवर होता है। एवं राग भाव के तथा संज्वलन कषाय के सद्भाव के कारण शुभ कर्म

आस्रव, शुभ कर्म-बन्ध भी होता है। सातवें गुण-स्थान में असाता वेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयशकीर्ति, अरति और शोक इन छह कर्म प्रकृतियों का संवर तथा छठे गुणस्थान से असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती है एवं संज्वलन कषाय तथा नो-कषायों के कारण कर्मबन्ध भी हुआ करता है।

व्रती के संवर होने का शास्त्री प्रमाण

गुणस्थानों में कर्म संवर को बतलाने के लिए गोम्मटसार कर्म-काण्ड की निम्नलिखित गाथा है-

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलह जोगिणो एक्को॥94॥

अर्थ- पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि 16 कर्म प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है अर्थात् उससे ऊपर के गुणस्थानों में इन 16 प्रकृतियों का संवर होता है। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि 25 कर्म प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है यानी-25 कर्म प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है यानी-25 प्रकृतियों का भी आगे के गुणस्थानों में संवर होता है। तीसरे गुणस्थान में किसी प्रकृति की बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती। तदनुसार चौथे गुणस्थान में पहले दूसरे गुणस्थान की बन्ध-व्युच्छित्ति वाली 16 + 25 = 41 प्रकृतियों का संवर होता है। चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि 10 प्रकृतियों की बंध-व्युच्छिति होती है, उनका आगे के गुणस्थान में आस्रव बन्ध नहीं होता, इसलिए अणुव्रत चारित्र वाले पाँचवें गुणस्थान में 41 + 10 =51 इक्यावन प्रकृतियों का संवर होता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, अतः महाव्रत चारित्र वाले छठे गुणस्थान में 51 + 4 = 55 पचपन प्रकृतियों का संवर होता है।

इसके आगे के गुणस्थानों में (यानी-छठे से लेकर) क्रम से 6-1-36 (आठवें गुणस्थान के विभिन्न भागों में 2 + 30 + 4 = 36)-5-16-0-1 प्रकृति की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, उस प्रकृति का उससे ऊपर के गुणस्थान

में संवर होता है। तीसरे और ग्यारहवें गुणस्थान में किसी कर्म प्रकृति की बंध-व्युच्छित्ति नहीं होती है, उस प्रकृति का उससे ऊपर के गुणस्थान में संवर होता है। तीसरे और ग्यारहवें गुणस्थान में किसी कर्म प्रकृति की बंध-व्युच्छित्ति नहीं होती तथा चौदहवें गुणस्थान में किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता।

तत्त्वार्थ सूत्र के नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र में बताया है कि-

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥ 2 ॥

अर्थ- वह संवर गुप्ति, समिति, क्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है। अतः व्रत, गुप्ति, समिति, क्षमा आदि धर्म, 12 भावना, परिषह सहन, देशव्रत, सकलव्रत, सामायिक आदि व्यवहार चारित्र से कर्मों का संवर होता है।

निर्जरा

जय धवल में श्री वीरसेन आचार्य लिखते हैं-

घडियजालं व कम्मे अणुसमयअसंखगुणिय सेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं ॥60॥[पुस्तक 1 पृष्ठ 107]

अर्थ-जब महाव्रतियों के प्रति-समय घटिका यंत्र के जल के समान असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जर होती रहती है, तब उनके पाप कैसे संभव है।

इन शास्त्री सिद्धान्तों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सम्यग्दृष्टि जितनी कर्म निर्जरा करता है उससे असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा तथा सम्यग्दृष्टि से अधिक कर्मों (51 प्रकृतियों) का संवर अणुव्रत पालन करने वाला श्रावक करता है।

अणुव्रती श्रावक से भी असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा तथा अधिक कर्मों का (55 कर्म प्रकृतियों का) संवर महाव्रती मुनि के होता है।

अतः कहानपंथ सिद्धान्त की यह मान्यता गलत है कि-

'अणुव्रत, महाव्रत शुभास्रव के कारण हैं, उनसे संवर और निर्जरा नहीं होती।'

श्री पं. वंशीधर जी कलकत्ता पक्षधर गोम्मटसार कर्मकाण्ड तथा तत्त्वार्थ सूत्र का अध्ययन, मनन करके अपना भ्रम दूर करें। वहाँ कर्मबन्ध क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर समयसार में दिया है।

सम्यग्ज्ञानी के बन्ध

रत्नत्रय की अपूर्ण अवस्था में सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी के कर्म-बन्ध होता ही है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में कहा है-

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ 172 ॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जो जघन्य भाव से (अपूर्ण रूप से) परिणमन करते हैं, उससे सम्यग्ज्ञानी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बंधा करता है।

टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी टीका में यही भाव व्यक्त किया है। इससे पहली 171 वीं गाथा की टीका में सूरि जी लिखते हैं-

'ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तमुहूर्त्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तावदवशयं भाविरागसद्भावत् बन्धहेतुरेव स्यात्।'

अर्थ- जब तक ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन होता है तब तक वह अन्तर्मूहूर्त्त में विपरिणामी होने से उसका बार-बार अन्य रूप से परिणमन होता रहता है। ज्ञान का वह जघन्य परिणमन यथाख्यात चारित्र की अवस्था (12 वें गुणस्थान) से नीचे सराग भाव अवश्य होने से कर्म-बन्ध का कारण ही होता है।

श्री कहान भाई क्रमबद्ध पर्याय का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए जिस स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं, उस कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में लिखा है-

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जाओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव॥ 65॥

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह परिसहजओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं संवरहेतू विसेसेण॥ 96॥

अर्थ- सम्यक्त्व, देशव्रत (अणुव्रत), महाव्रत, कषायों का जीतना तथा योगों का अभाव, ये संवर के नाम हैं। गुप्ति, समिति, क्षमा आदि धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और उत्कृष्ट चारित्र, ये विशेष रूप से संवर के कारण हैं।

निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी जो कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है उसका कारण असंयत भाव है। चारित्र मोहनीय के उदय रहने से असंयत सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व सराग-सम्यक्त्व होता है, अत: उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं।

जब चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण अभाव हो जाता है तब सराग भाव मिट जाने से यानी- वीतराग भाव हो जाने से वह सम्यक्त्व वीतराग का निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है-

तत् द्विविधं सराग-वीतराग-विषयभेदात्।
प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।
आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है- सराग सम्यक्त्व, वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव प्रगट करने वाला, सराग व्यक्ति का सम्यक्त्व 'सराग-सम्यक्त्व' है और मोहनीय कर्म के अस्त हो जाने पर आत्मा की विशुद्धि वाले व्यक्ति का सम्यक्त्व 'वीतराग सम्यक्त्व' है।

राजवार्तिक अ. 1 सूत्र 2 वार्तिक 31 में क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहा है।

समयसार गाथा 13 की उत्थानिका में लिखा है-

'निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनभावि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व' भण्यते।

द्रव्य संग्रह की 41 वीं गाथा की टीका में लिखा है-

एव मुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडनायतनशंकाद्यष्टमल-रहितं शुद्ध जीवादितत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहार सम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव सम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोग-लक्षणं निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाल्हा- दैकरूप-सुखामृत-रसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूप वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्व च ज्ञातव्यमिति।....... व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यते।

अर्थ- इस तरह 3 मूढ़ता, 8 मद, 6 अनायतन और 8 शंका आदि दोषरहित शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धान सराग सम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये। उसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा परंम्परा से (गुणस्थान-क्रम से) साधने योग्य शुद्ध उपयोग लक्षण वाले, निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न, परम सुख आदिक हेय है, ऐसी रुचि-रूप तथा वीतराग चारित्र के बिना न होने वालो (अविनाभावी) ''वीतराग सम्यक्त्व'' नामक ''निश्चय सम्यक्त्व'' जानना चाहिये।

अत: कहानपंथ के नेता निश्चयसम्यक्त्व को जो चौथे आदि सराग गुणस्थान में बतलाते हैं, वह भ्रम उन्हें इन शास्त्रीय प्रमाणों को देखकर दूर कर देना चाहिये।

निश्चय सम्यक्त्व, चारित्र मोहनीय का क्षय हो जाने पर बारहवें आदि गुणस्थानों में होता है, उससे पहले राग-अवस्था में वह नहीं होता।

तभी तो

कहने में आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी श्रेणिक राजा ने राग-उदय से शारीरिक पीड़ा से बचने के लिए आत्म-हत्या करके अपना प्राणान्त किया।

बन्ध का कारण

जिस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय 21 वें सूत्र 'सम्यक्त्वं च' में सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण बतलाया है और नौवें अध्याय के 45 वें सूत्र 'सम्यग्दृष्टि-श्रावक' आदि में सम्यग्दर्शन को निर्जरा का कारण बतलाया है उसी प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र के नौवें अध्याय में जहाँ व्यवहार चारित्र-समिति आदि से कर्म-संवर होना बतलाया है, उसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में अणुव्रत महाव्रत को पुण्य कर्मास्रव का भी कारण कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि-

व्यवहार (सराग) सम्यक्त्व और व्यवहार (सराग) चारित्र के हो जाने पर सम्यक्त्व तथा चारित्र के साथ राग-परिणाम भी होते हैं। यानी- चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व और राग के मिश्रित भाव तथा पाँचवें छठे गुणस्थान के अणुव्रती महाव्रती चारित्र के साथ रागमिश्रित भाव होते हैं, अत एवं उसे सराग सम्यक्त्व अंश से बन्ध नहीं होता उससे तो संवर और निर्जरा ही होती है किन्तु राग-अंश से कर्म-बन्ध होता है। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजा के अन्त समय बन्ध-कारक आत्म-हत्या की भावना हुई और उस भावना से उसने आत्म-हत्या कर भी डाली।

इसी तरह संसार, शरीर, विषय भोग एवं पाप, दुर्व्यसन, अदया से विरक्ति या निवृत्ति रूप व्रतात्मक चारित्र-अंश से तो संवर निर्जरा ही होती है, कर्म-बन्ध नहीं होता किन्तु उसके साथ जो संज्वलन क्रोध लोभ आदि एवं रति अरति आदि नो-कषाय का सराग भाव होता है, उससे कर्म का आस्रव और बन्ध भी होता है। जैसा कि श्री पं. टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश में पृष्ठ 334 तथा पृष्ठ 340 पर लिखा है। तथाच-इसी कर्मबन्ध होने, न होने का विवरण भी श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय ग्रन्थ के 212-213-214 में श्लोकों में स्पष्ट बतलाया है, जिसे इसी पुस्तक में पृष्ठ 35-36 पर लिख चुके हैं।

इस 21 वें कथन में जो 9 शास्त्रीय आधार दिये हैं उनका उत्तर 6वीं वार्ता में दे चुके हैं, अत: उनको यहाँ फिर नहीं लिखा है।

इक्कीसवीं वार्ता

परिशिष्ट

भा.दि. जैन शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव के अन्तर्गत ''नियति वाद, कार्य-सिद्धि में निमित्त कारण की अकिंचित्करता, व्यवहार चारित्र की त्याज्यता, व्यवहारनय की असत्यार्थता, केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान का उदय न मानना इन कहानपंथ सिद्धान्त के मान्य पाँच विषयों के समर्थन में श्री पं. वंशीधर जी कलकत्ता ने अपने ट्रैक्ट में कुछ नहीं लिखा। इन विषयों का समर्थन यह लिखकर छोड़ दिया है, कि इन विषयों पर प्रस्ताव में कुछ आधार नहीं बताया गया। संभवत: 'अमूल्यदान-क्रयी' न्याय के अनुसार श्री पं. वंशीधर जी ने यह सरल साधन अपनाया है। क्योंकि प्रस्ताव की उल्लिखित ये पाँचों बातें कहानपंथ सिद्धांत में प्रख्यात है। अस्तु।

इन पाँचों बातों पर भी यहाँ संक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है, जिससे पाठक उनसे भी परिचित हो जावें।

नियतिवाद

श्री कहानभाई ने अपनी 'वस्तु विज्ञानसार' पुस्तक के पृष्ठ 46 पर नियतिवाद का पोषण किया है। बाद में इस नियतिवाद का नाम उन्होंने 'क्रमबद्धपर्याय' रक्खा है। यह नियतिवाद एकान्त का सिद्धान्त जैन-आगम के प्रतिकूल है। श्री कहानभाई ने सर्वज्ञ के ज्ञान की दुहाई देकर जो समस्त पदार्थों की नियत पर्यायों का नियत-क्रम रूप एकान्त बनाया है वह सर्वज्ञ की वाणी से भी गलत है और जीव पुद्‌गलों की अनिश्चित अक्रमिक पर्यायों से भी गलत सिद्ध होता है। प्रथम ही संक्षेप से शास्त्रीय आधार से इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है-

1- गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 882 में तथा पंच-संग्रह आदि आर्ष ग्रन्थों में नियतिवाद को एकान्त मिथ्यात्व माना गया है। गोम्मट सार कर्मकाण्ड में लिखा है-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियादिवादो दु॥882॥

अर्थ- जो जिस समय जैसे जिसके नियम से होना है, वह उस समय उससे वैसे उसके होता है, ऐसा नियम से सब वस्तुओं का मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

2- श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में लिखा है-

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्ज ओघ परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो॥155॥

अर्थ-जीव अपने ज्ञानदर्शन रूप चैतन्य स्वभाव में नियत है। किन्तु अनादि काल से मोहनीय कर्म के उदय से क्षण-क्षण में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, भय, स्त्रीवेद, पुंवेद आदि विभिन्न प्रकार मोही भावों के कारण पर समय रूप अनियत गुण पर्याय वाला बना हुआ है। यदि वह मोही भावों से अलग होकर स्व समय बन जाता है तो कर्म बन्धन से छूट जाता है।

इस गाथा में आचार्य ने संसारी पर समय जीव को मोहनीय कर्म के उदय से 'अनियत गुणपर्याय वाला' बना हुआ है। यदि वह मोही भावों से अलग होकर स्वसमय बन जाता है तो कर्म बन्धन से छूट जाता है।

इस गाथा में आचार्य ने संसारी परसमय जीव को मोहनीय कर्म के उदय से 'अनियत गुणपर्याय वाला' कहा है।

3- श्री अमृतचन्द्र सूरि ने प्रवचनसार ग्रन्थ के अन्त में चरणानुयोग सूचक चूलिका में 26 वीं 27वीं नियतिनय तथा अनियति नय द्वारा आत्मा का निरूपण किया है-

नियतियेन नियमितौष्ण्यवन्हिवन्नियतस्वभावभासि॥26॥
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्व-भावभासि॥27॥

अर्थ- आत्मा अग्नि की नियमित उष्णता के समान नियतिनय से नियति-स्वभाववाला भासित होता है ॥26॥ जल की अनियत उष्णता के समान आत्मा अनियति नय से अनियत स्वभाव वाला प्रतिभासित होता है॥27॥

4- तत्त्वार्थराजवार्तिक प्रथम अध्याय सूत्र 3 से 9 वें वार्तिक में लिखा है- **कालानियमाच्च निर्जरायाः।**

अर्थ-जीवों के कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति होने का समय नियत नहीं है-

5- श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड़ में लिखा है-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ॥25॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणषडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अण्णपसंगेहिं विविहेहिं॥26॥
इय तिरिय मणुयजम्मे सुइरं उदवज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्तं ॥27॥

अर्थ- विषभक्षण, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, आहार-निरोध (भूख), श्वास-निरोध (सांस घुट जाना) हो जाने से आयु असमय में समाप्त हो जाती है। तथा हे मित्र! तूने बर्फ में गलने, अग्नि में जलने, पानी में डूबने, पर्वत से तथा ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ने से शरीर भंग हो जाने के कारण, पारे आदि घातक रसायन से एवं समाधि लगाने आदि अन्य कारणों से इस मनुष्य भव में तथा तिर्यञ्च भव में अत्पन्न होकर अनेक बार अकालमरण का तीव्र दुःख पाया है।

6- श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दो में लिखा है-

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥53॥

अर्थ-देव, नारकी, उत्तम चरम-शरीरी मनुष्य, भोगभूमिज पशु, मनुष्य पूर्ण आयु भोगने वाले होते हैं। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष जीवों का अकाल-मरण भी हो सकता है।

सारांश यह है कि कर्म-भूमिज पशु पक्षी कीड़े मकोड़े आदि तथा मनुष्यों का अकालमरण भी होता है।

इस सूत्र की टीका रूप श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, आदि ग्रन्थों में अकाल मरण की पुष्टि की गई है।

7- गोम्मटसार कर्मकाण्ड में अकाल मरण (कदलीघात मरण) का विधान है-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
उस्सासाहारणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥ 57॥

अर्थ- विष खा लेने से, असह्य पीड़ा से, रक्त-क्षय हो जाने से, महान भय से, शास्त्रघात से, भारी संक्लेश से, सांस घुट जाने से, भोजन पानी न मिलने से आयु असमय में समाप्त हो जाती है।

8- गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कर्म की 10 दशा बतलाई हैं-

बंधुक्कट्टकरणं संकममो कट्टुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ति णिकाचणा होदि पडिपयडी॥437॥

अर्थ- बन्ध, उत्कर्षण (स्थिति अनुभाग का बढ़ना), संक्रमण (बाँधी हुई कर्म प्रकृति का बदल जाना), अपकर्षण (बाँधी हुई स्थिति अनुभाग का घट जाना), उदीरणा (समय से पहले कर्म का उदय में आना), सत्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति (जिसकी उदीरणा संक्रमण न हो सके), निकाचित (जिस कर्म की उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण न हो सके) ये कर्म की दश दशाएँ होती हैं।

इनमें से उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा के अनुसार बाँधा हुआ कर्म जैसे का तैसा फलदायक नहीं रहता, उसकी दशा अनियत रहती है। यानी- कभी कर्म की स्थिति अनुभाग घट जाता है, कभी बढ़ जाता है, कभी साता, असाता आदि कर्म बदल जाते हैं, कभी उनका उदय यथासमय से पहले आ जाता है। अकालमरण भी आयु कर्म की समय से पहले उदीरणा के अनुसार होता है।

9- श्री अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अन्त में अकालमरण की पुष्टि करते हुए लिखा है-

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत् न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत्॥110॥

यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्या - म्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।

अर्थ-शंका-समय (आयु समाप्ति) से पहले मरण नहीं होता है?

उत्तर- सर्वथा ऐसी बात नहीं है। समय से पहले (आयु समाप्त होने से पहले) भी जीवों का मरण होता देखा जाता है। जैसे कि समय से पहले आम का पकना देखा जाता है। जिस प्रकार आम का फल पेड़ से तोड़कर समय से पहले पयाल कागज भुस आदि में रखकर पका लिया जाता है, उसी प्रकार आयु की मर्यादा से पहले शस्त्रघात, विष-भक्षण, दुर्घटना आदि कारणों से आयु कर्म की उदीरणा होने (निश्चित समय से पहले उदय में आ जाने) से आयु का अपवर्त (कम होना) होता है। यानी- स्थिति पूर्ण होने से पहले मरण हो जाता है।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥11॥ यथाष्टङ्गायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात्प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः।

अर्थ- आयुर्वेद (वैद्यक, डाक्टरी) की सामर्थ्य से भी अकाल-मृत्यु की सिद्धि होती है। जैसे वैद्यक विषय में अत्यन्त चतुर वैद्य यथासमय प्रगट होने वाले शरीर में वात आदि विकार से पहले ही औषधि से वमन (उल्टी) तथा विरेचन (मल) द्वारा कफ को निकाल देता है। तथा अकाल मृत्यु से बचाने के लिए औषधि का प्रयोग करना बतलाता है। यदि किसी मनुष्य, पशु-पक्षी का अकाल मरण न होता हो तो औषधि का प्रयोग करना, शल्य-चिकित्सा (चीर-फाड़ आपरेशन) आदि सब उपाय करना व्यर्थ है। इस

कारण आयुर्वेद (वैद्यक, डॉक्टरी) की सामर्थ्य से भी अकाल मृत्यु की सिद्धि होती है। इत्यादि अनेक आगम-प्रमाणों द्वारा अकालमरण, तथा संसारी जीवों और पुद्गलों की विभिन्न कारणों से नियत तथा अनियत पर्यायों का होना सिद्ध होता है।

सर्वज्ञ त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों की त्रिकालीन पर्यायों को जानता है। अपने-अपने उपादान कारण तथा निमित कारणों से जैसी नियत या नियत (क्रमबद्ध या अक्रमिक) पर्यायें होती हैं उनको वह उसी नियत या अनियत क्रम से जानता है। जैसा वह जानता है वैसा ही उसने संसारी जीवों को अपनी दिव्यवाणी द्वारा बतलाया है।

यदि सर्वज्ञ भगवान सर्व पर्यायों को नियति रूप से जानते तो वे नियतिवाद को मिथ्यात्व न कहते।

अत: उपर्युक्त प्रमाणों से जो अकालमरण आदि अनियत पर्यायों के विधान के विषय में आर्ष ग्रन्थों में लिखा है, वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार ही लिखा है, अपनी कपोल-कल्पित बात नहीं लिखी। इसलिये कहानपंथ के नेताओं को सर्वज्ञ वीतराग देव (सर्वज्ञ भगवान), जिनवाणी (गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक आदि ग्रन्थ) और सद्गुरुओं (श्री कुन्दकुन्द आदि ग्रन्थकार आचार्यों) पर श्रद्धा प्रगट करके एकान्त मिथ्यात्वरूप नियतिवाद सिद्धान्त छोड़ देना चाहिये।

विज्ञान के आविष्कार

आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार भी क्रमबद्ध-पर्याय की मान्यता को आलसी निठल्ले व्यक्तियों का नि:सार सिद्धान्त प्रमाणित करते हैं।

टीन, एल्युमिनियम, रेडियम आदि धातुओं की उत्पत्ति, सीमेन्ट, स्टेनलैस स्टील का मिश्रित उत्पादन, प्लास्टिक, सैल्युलाइड का निर्माण, काँच के रेशों से वस्त्र-निर्माण, परमाणु द्वारा बिजली बनाना, विध्वंसक बम बनाना, बिजली, टेलीफोन, बेतार का तार, रेडियो, टेलिविजन, कृत्रिम हृदय, प्लास्टिक की हड्डी आदि अगणित पदार्थ ऐसे बन रहे हैं जिनकी पहले कोई

क्रमबद्धपर्याय थी ही नहीं।

रूस परमाणु बम की मार से अपने यहाँ की नदियों के प्रवाह की दिशा बदल देने की तैयारी में है जिससे समस्त यूरोप का शीत वातावरण भारत-सरीखा शीत-उष्ण हो जायेगा। परमाणु बम के विस्फोटों ने जलवर्षा को कितना विकृत कर दिया, यह बात सब के सामने है।

कृत्रिम गर्भाधान

पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए आजकल कृत्रिम गर्भाधान की भी पद्धति चल पड़ी है। जिस देश में अधिक दूध देने वाली गायें उत्पन्न होती हैं वहाँ के साँड़ों का वीर्य काँच की ट्यूब (वैज्ञानिक काँच की नली) में लेकर सैकड़ों हजारों मील दूरवर्ती देशों में भेज देते हैं। पिचकारी से उसे गायों के गर्भाशय में पहुँचा दिया जाता है जिससे वह गाय गर्भवती होकर उसी नस्ल का बछड़ा-बछड़ी उत्पन्न करती है।

दिल्ली की पशु प्रदर्शिनी में ऐसी अनेक भारतीय गायों के बछड़ी-बछड़े लाये गये थे जो यहाँ से 5000 मील दूर रहने वाले अमरीका के साँडों के (काँच की नली में लाये गये) वीर्य से उत्पन्न हुए थे।

विदेशों में स्त्रियों पर भी इस तरह के कृत्रिम गर्भाधान के प्रयोग हुए हैं। अमरीका निवासी एक मनुष्य के वीर्य को काँच की नली में भारत में लाया गया, उससे एक भारतीय महिला को गर्भाधान कराया गया।

इस तरह यह कृत्रिम गर्भाधान की अक्रम-पर्याय का वैज्ञानिक प्रयोग है।

अन्धों के नेत्र

अब तक अन्धे स्त्री-पुरुष जन्म भर अन्धे ही बने रहते थे। उनका जीवन उनके लिये तथा उनके परिवार के लिये, समाज और देश के लिये भाररूप पराधीन माना जाता रहा है।

अब वैज्ञानिक ने मृतक स्त्री-पुरुषों की आँखें निकाल कर उनको अन्धे स्त्री-पुरुषों की आँखों में लगाने की प्रक्रिया का आविष्कार किया है।

इस तरह अन्धे स्त्री पुरुष अन्य व्यक्तियों की तरह अपनी उन लगाई गई आँखों द्वारा देखने लगते हैं।

इसके लिये मरणोन्मुख व्यक्तियों को प्रेरणा करने की पद्धति चल पड़ी है कि मरने के पश्चात् वे अपनी आँखों का दान अन्धों की आँखें ठीक करने के लिये कर दें।

बधिर (बहरे) स्त्री पुरुषों के कान ठीक कर देने का भी वैज्ञानिक आविष्कार हुआ है।

20 वर्ष पहले एक सैनिक अधिकारी का हाथ कट गया था, गत वर्ष अन्य मृतक मनुष्य का हाथ काट कर उस सैनिक के हाथ में जोड़ दिया, अब वह उससे सभी काम ठीक करता है।

इस तरह वैज्ञानिक आविष्कारों ने अन्धे बहरे पुरुषों की क्रमबद्ध पर्याय को छिन्न-भिन्न कर डालने की चुनौती दी है।

इत्यादि अनेक आध्यात्मिक, शास्त्रीय, लौकिक तथा वैज्ञानिक प्रमाणों से क्रमबद्ध पर्याय का एकान्त सिद्धान्त असत्य सिद्ध होता है।

भौगोलिक क्रम-भङ्ग

प्राकृतिक दुर्घटनाओं-भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतों का विनाशकारी विस्फोट, उनसे लावा निकल बहना तथा समुद्री भारी तूफान आदि- से अनेक भौगोलिक परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे कि 16वीं शताब्दी में इटली का एक लाख मनुष्यों की जनसंख्या वाला पम्पियाई नामक नगर विसूविएस नामक ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोट से प्रचुर मात्रा में निकली हुई राख से इस तरह दब गया था कि तीन सौ वर्ष तक उसके चिन्ह का भी पता न लगा।

काले समुद्र की तूफानी लहरों ने अपने तटवर्ती एक रूसी नगर को लगभग 200 वर्ष पहले समुद्र में डुबा दिया था जिससे समुद्र के भीतर समूचे मकान अब भी मिल रहे हैं।

इसके सिवाय आधुनिक अमरीकन इन्जीनियरों ने भी पनामा नहर बनाकर अटलांटिक तथा प्रशान्त महासागर को और स्वेज नहर द्वारा

भूमध्यसागर तथा अरब सागर को मिला दिया है। अमेरिका ने अपने यहाँ एक कृत्रिम समुद्र बनाया है। भारत सरकार ने भाखड़ा बांध से सतलुज नदी का प्रवाह बीच में ही समाप्त कर दिया है। इत्यादि अनेक भौगोलिक परिवर्तन क्रमबद्ध-पर्याय का जीता जागता खण्डन कर रहे हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण तथा अन्तरंग बहिरंग निमित्त कारणों के मिलने पर ही होता है। निमित्तकारण जहाँ क्रम से मिलते जाते हैं वहाँ पर्याय क्रम से होती है, जहाँ निमित्त कारण अक्रम के मिलते हैं वहाँ पर्याय अक्रम से होती है। अशुद्ध पदार्थों को पर्यायों में न तो सर्वथा क्रम ही होता है और न सर्वथा अक्रम होता है।

नियत अनियतवाद पर अभिमत

(डॉ. श्री पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में इन विषय पर अपना अभिमत प्रगट किया है, उसका कुछ अंश यहाँ देते हैं।)

नियतानियतत्ववाद- जैन दृष्टि में द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षण के परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्य की उस समय की योग्यता से जितने प्रकार के परिणमन हो सकते हैं उनमें से कोई भी परिणमन, जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायेगी, हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य की शक्तियाँ तथा उनसे होने वाले परिणमनों की जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गल के परिणमन जीव में तथा जीव के परिणमन पुद्गल में नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा, यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायेगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायेगा। अत: नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेद से सम्भव है।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह दृश्य जगत है। इनकी अपनी द्रव्य-शक्तियाँ नियत हैं। संसार में किसी भी शक्ति नहीं जो द्रव्य-शक्तियों में से एक को भी कम कर सके या एक को बढ़ा सके। इनका

आविर्भाव और तिरोभाव पर्याय के कारण होता है। जैसे मिट्टी पर्याय को प्राप्त पुद्गल से तेल नहीं निकल सकता, वह सोना नहीं बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योंकि मिट्टी पर्याय वाले पुद्गलों की यह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बनने की, अंकुर को उत्पन्न करने की, बर्तनों के शुद्ध करने की, प्राकृतिक चिकित्सा में उपयोग आने की आदि पचासों पर्याय-योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी, अगले क्षण में वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेंट के साथ मिलकर दीवाल पर पुष्ट लेप करने की योग्यता प्रकट है, वह काँच बन सकती है या बही पर लिखी जाने वाली काली स्याही का शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्याय में ये योग्यताएँ अप्रकट हैं। तात्पर्य यह है कि:-

(1) प्रत्येक द्रव्य की मूल द्रव्य शक्तियाँ नियत हैं उनकी संख्या में न्यूनाधिकता कोई नहीं कर सकता। पयार्य के अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय-योग्यता कहते हैं। (2) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूप से तथा अचेतन का चेतन रूप से परिणमन नहीं हो सकना। (3) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्य का दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूप से परिणमन नहीं हो सकता। (4) यह भी नियत है कि दो चेतन मिल कर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अचेतन परमाणु मिल कर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (5) यह भी नियत है कि द्रव्य में उस समय जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं उनमें जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भाव में रहेंगी। (6) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई परिणमन अगले क्षण में अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल-योग्यताओं और पर्यायगत प्रकट योग्यताओं की सीमा के भीतर ही होगा, बाहर कदापि नहीं। (7) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यता का ही विकास करता है उसमें नूतन सर्वथा असद्भूत परिणमन

उपस्थित नहीं कर सकता। (8) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का उपादान होता है। उस समय की पर्याय-योग्यता रूप उपादान शक्ति की सीमा के बाहर का कोई परिणमन निमित्त नहीं ला सकता। परन्तु-

(1) यही एक बात अनियत है कि 'अमुक समय में अमुक परिणमन ही होगा।' मिट्टी की पिंड पर्याय में घड़ा सकोरा सुराही दीपक आदि अनेक पर्यायों के प्रकटाने की योग्यता है। कुम्हार की इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलने पर उनमें से जिसकी अनुकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षण में उत्पन्न हो जायेगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टी की यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूप से होना था, पानी की यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यता के अज्ञान का फल है।

नियतवाद नहीं- जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है, इस प्रकार के निष्क्रिय नियतिवाद के विचार जैनत्त्व-स्थिति के प्रतिकूल है। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, हमारा पुरुषार्थ तो कोयले की हीरा पर्याय के विकास कराने में है। यदि कोयले के लिए उसकी हीरा पर्याय के विकास के लिये आवश्यक सामग्री न मिले तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खान में ही पड़े-पड़े समाप्त हो जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसमें उपादान शक्ति नहीं है उसका परिणमन भी निमित्त से हो सकता है, या निमित्त में यह शक्ति है जो निरुपादान को परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष- एक बार 'ईश्वरवाद' के विरुद्ध छात्रों ने एक प्रहसन खेला था। उसमें एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वर ने समस्त दुनिया के पदार्थों का कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थ की अमुक समय में यह दशा होगी इसके बाद यह, सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि- 'हम क्या कर सकते हैं? ईश्वर के नियति-चक्र में हमारा हस्तक्षेप उचित नहीं ''ईश्वर की मर्जी।''

एक बार कुछ गुण्डों ने राजा के सामने ही रानी का अपहरण किया। जब रानी ने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजा को क्रोध आया तब गुण्डों के सरदार ने जोर से कहा- ''ईश्वर की मर्जी'' राजा के हाथ ढीले पड़ते हैं और वे गुण्डे रानी को उसके सामने ही उठा ले जाते हैं। गुण्डा रानी को भी समझाते हैं कि ''ईश्वर की मर्जी यही थी'' रानी भी विधिविधान में अटल विश्वास रखती थी और उन्हें आत्म-समर्पण कर देती है। राज्य में अव्यवस्था फैलती है और परचक्र का आक्रमण होना है और राजा की छाती में दुश्मन की जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वर की मर्जी' इस जहरीले विश्वास-विष से बुझी हुई था और जिसे राजा ने विधि-विधान मान कर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी गुण्डों और शत्रुओं के आक्रमण के समय ''ईश्वर की मर्जी'' ''विधि का विधान'' इन्हीं ईश्वरास्त्रों का प्रयोग करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर भी क्या करता? गुण्डे और शत्रुओं का कार्यक्रम भी उसी ने बनाया था और वे भी 'ईश्वर की मर्जी' और 'विधिविधान' की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवाद में इतनी गुंजाइश तो थी कि यदि ईश्वर चाहता तो अपने विधान में कुछ परिवर्तन कर देता। आज कहान भाई की 'वस्तु विज्ञानसार' पुस्तक को पलटते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवाद का कालकूट 'ईश्वरवाद' से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाती है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है, पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साँप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूट का इस भीषण दृष्टि-विष का कोई उपाय नहीं; क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकांत विष को

अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढ़ी को पिला कर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदा के लिए पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।

पुण्य और पाप क्यों?- जब प्रत्येक जीव का प्रतिसमय का कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकतृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्व-कर्तृत्व भी नहीं है, तब क्या पुण्य और क्या पाप? किसी मुसलमान ने देव प्रतिमा तोड़ी, तो जब मुसलमान को उस समय प्रतिमा को तोड़ना ही था, प्रतिमा को उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो बिचारे मुसलमान का क्या अपराध? वह तो नियति-चक्र का दास था। कोई याज्ञिक ब्राह्मण बकरे की बलि चढ़ाता है तो क्यों उसे हिंसक कहा जाये- 'देवी की ऐसी ही पर्याय होनी थी, बकरे के गले को कटना ही था, छुरे को उसकी गर्दन के भीतर घुसना ही था, ब्राह्मण के मुँह में मांस जाना ही था, वेद में ऐसा ही लिखा जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तो उस बिचारे को क्यों हत्यारा कहा जाये? हत्याकाण्ड रूपी घटना अनेक द्रव्यों के सुनिश्चित परिणमन का फल है। जिस प्रकार ब्राह्मण के छुरे का परिणमन बकरे के गले के भीतर घुसने का नियत था उसी प्रकार बकरे के गले का परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुसवाने का निश्चित था। जब इन दोनों नियत घटनाओं का परिणाम बकरे का बलिदान है तो इसमें क्यों ब्राह्मण को हत्यारा कहा जाये? स्त्री का परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुष का भी एकसा ही, दोनों के नियत परिणमनों का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यों कहा जाये? इस तरह इस श्रोत्र-विषरूप (जिसके सुनने से ही पुरुषार्थ-हीनता का नशा आता है) नियतिवाद में जब अपने भावों का भी कर्तृत्व नहीं है अर्थात् ये भाव सुनिश्चित हैं, तो पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा, सदाचार-दुराचार, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या?

गोडसे हत्यारा क्यों?- यदि प्रत्येक द्रव्य का प्रति समय का परिणमन नियत है, भले ही वह हमें न मालूम हो, तो किसी कार्य को पुण्य और किसी कार्य को पाप क्यों कहा जाये? नाथूराम गोडसे ने महात्मा जी को गोली

मारी, तो क्यों नाथूराम को हत्यारा कहा जाये? नाथूराम का उस समय वैसा ही परिणमन होना था और गोली का और पिस्तौल का भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या, नाथूराम, महात्मा जी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थों के नियत कार्यक्रम का परिणाम है। इस घटना से सम्बद्ध सभी पदार्थों के परिणमन नियत थे। और उस सम्मिलित नियति का परिणाम हत्या है। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्मा जी के प्राणवियोगरूप परिणमन में निमित्त हुआ है, अत: अपराधी है तो महात्माजी को नाथूराम के गोली चलाने में निमित्त होने पर क्यों न अपराधी ठहराया जाये? जिस प्रकार महात्माजी का यह परिणमन निश्चित था उसी प्रकार नाथूराम का भी। दोनों नियतिचक्र के सामने समान रूप से दास थे। सो यदि नियतिदास नाथूराम हत्या का निमित्त होने से दोषी है, तो महात्माजी नाथूराम की गोली चलाने रूप पर्याय में निमित्त होने से दोषी क्यों नहीं? इन्हें जाने दीजिए, हम तो यह कहते हैं कि- पिस्तौल से गोली निकलनी थी और गोली को गांधी जी की छाती में घुसना था इसलिए नाथूराम और महात्माजी की उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौल के उस अवश्यमभावी परिणमन का एक निमित्त था जो नियति चक्र के कारण वहाँ पहुँच गया। जिनकी नियति का परिणाम हत्या नाम की घटना है। वे सब पदार्थ समान रूप से नियतिचक्र से प्रेरित होकर उस घटना में अपने अपने नियत भवितव्य के कारण उपस्थित हैं। अब उनमें से क्यों मात्र नाथूराम को पकड़ा जाता है? बल्कि हम सब को उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरण को जज बनना था इसलिए वह सब हुआ। अत: हम सब को और आत्माचरण को ही पकड़ना चाहिए। अत: इस नियतिवाद में न कोई पुण्य है न पाप, न सदाचार न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नहीं तब क्या सदाचार क्या दुराचार? नाथूराम गोडसे को नियतिवाद के आधार पर ही अपने बचाव करना चाहिए था, और सीधा आत्माचरण के ऊपर टूटना चाहिए था कि चूंकि तुम्हें हमारे मुकदमे का जज होना था इसलिये इतना बड़ा नियतिचक्र चला और हम सब उसमें फंसे। यदि सब चेतनों को छुड़ाना है तो पिस्तौल के भवितव्य को

दोष देना चाहिए, न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता न वह गोडसे के हाथ में आती और न गांधीजी की छाती में छिदती। सारा दोष पिस्तौल के नियत परिणमन का है। तात्पर्य यह है कि इस नियतिवाद में सब साफ है। व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन उन पदार्थों के नियत परिणमन के परिणाम हैं, इसमें व्यक्ति विशेष का क्या दोष? अत: इस सत्-असत्-लोपक, पुरुषार्थ-विघातक नियतिवाद विष से रक्षा करनी चाहिए।

नियतिवाद में एक ही प्रश्न एक ही उत्तर- नियतिवाद में एक उत्तर है- 'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमें न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्था में इस प्रकार के मृत-विचारों का क्या उपयोग? जगत् में विज्ञानसम्मत कार्यकारण भाव है। जैसी उपादान योग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतन का परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्री के जुटाने में है। एक अग्नि है, पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दन का चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकल कर कमरे को सुवासित कर देता है, यदि बाल आदि पड़ते हैं तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न हो जाता है। यह कहना अत्यन्त भ्रान्त है कि चूरा को उसमें पड़ना था, पुरुष को उसमें डालना था, अग्नि को उसे ग्रहण करना ही था इसमें यदि कोई हेर-फेर करता है तो नियतिवादी का वही उत्तर कि "ऐसा ही होना था।" मानो जगत के परिणमनों को ऐसा ही होना था, इस नियति-पिशाचिनी ने अपनी गोद में सभी कुछ ले रखा हो।

नियतिवाद में स्वपुरुषार्थ भी नहीं- नियतिवाद में अनन्त में अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नहीं है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षण का कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्त काल का, उसमें हेर-फेर का हमको भी अधिकार नहीं है तब हमारा पुरुषार्थ कहाँ? और कहाँ हमारा सम्यग्दर्शन? हम तो एक महानियति चक्र के अंश है और उसके परिचलन के अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है,

व्यभिचार करते हैं तो नियत है चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहाँ होगा? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की मौजूदगी से रहित नहीं है, जबकि हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य-निर्माण कर सकें।

भविष्य-निर्माण कहाँ?- इस नियतिवाद में भविष्य-निर्माण की भारी योजनाएँ हवा है। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह भी नियतिचक्र में सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि- 'तुममें उपादान-योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्य का निर्माण स्वयं कर सकोगे।' पर जब नियतिचक्र निर्माण करने की बात पर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करें? हमारा हमारे ही परिणमन पर अधिकार नहीं है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थ-भ्रष्टता का इससे व्यापक उपदेश इससे अधिक दूसरा नहीं हो सकता। इस नियतिचक्र में सबका सब कुछ नियत है, उसमें अच्छा क्या बुरा क्या? हिंसा क्या अहिंसा क्या?

निमित्त कारण

श्री कहान भाई अपनी पुस्तक 'वस्तु विज्ञानसार' के पृष्ठ 33 पर लिखते हैं-

'परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकार रूप या शुद्ध रूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की जो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय पर-वस्तु की उपस्थिति हो तो इसमें क्या? परवस्तु का और निजवस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है, इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है।

श्री कहान भाई जी द्वारा प्रचलित यह ''बिना निमित्त कारण के कार्य

होने'' का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि के प्रतिपादक चारों अनुयोग रूप समस्त आगमों के तथा समस्त विज्ञान (साइन्स) के समस्त तर्कशास्त्र एवं समस्त दर्शन-सम्मत कार्यकारण भाव के प्रतिकूल है।

'यस्मिन सति यद् भवति, असति च न भवति, तत्तस्य कारणम्'

अर्थ- जिसके होने पर जो कार्य हो, जिसके न होने पर वह कार्य न हो, वह उस कार्य का कारण होता है।

यह कार्य- कारण भाव का सर्वसम्मत लक्षण है। कारण दो प्रकार के होते हैं- 1. 'उपादान कारण' जो कि स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। 2. 'निमित्त कारण' जो उस कार्य के होने में सहायता करता है। उपादान कारण एक होता है परन्तु निमित्त कारण अनेक हुआ करते हैं। जिस तरह उपादान कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता, इसी तरह निमित्त कारणों के बिना भी कोई कार्य नहीं होता।

जैसे रुई से कपड़ा बनता है, तो रुई कपड़े का उपादान कारण है, बिना रुई के कभी सूती कपड़ा बन नहीं सकता। परन्तु अकेली रुई से भी कपड़ा नहीं बन सकता रुई को धागों के रूप में लाने के लिए चर्खा और चर्खा चलाने वाली स्त्री या पुरुष होना चाहिये बिना चर्खा या मशीन तथा उसके चलाने वाले व्यक्ति के धागा अपने आप नहीं बन सकता। धागा बन जाने पर कपड़ा बनाने के लिए उसको बुनने का करघा तथा करघा चलाने वाला जुलाहा होना चाहिये, बिना करघा और बुनकर और जुलाहे के उस धागे से कपड़ा नहीं बन सकता है इस तरह रुई से कपड़ा बनाने के लिए चरखा, करघा, कातने वाले, बुनने वाले आदि अनेक कारण होने अत्यन्त आवश्यक हैं उन निमित्त कारणों के बिना रुई से कपड़ा त्रिकाल में नहीं बन सकता।

इस विषय में श्री कहान पंथ का यह मत है कि ''कार्य केवल उपादान कारण से होता है, निमित्त कारण कुछ नहीं करता।'' उनका यह मानना और कहना सर्वथा गलत है क्योंकि न तो कोई नैतिक कार्य बिना निमित्त कारणों की सहायता के होता है या हो सकता है और न कोई आध्यात्मिक

कार्य- कर्म-बंधन या कर्म-मोचन (कर्मों से मुक्ति) बिना निमित्त कारणों की सहायता के होता है या हो सकता है।

''सामग्री जनिका, नैकं कारणं।'' यानी-उपादान और निमित्त कारणों से समुदाय से ही कार्य होता है, केवल अकेले उपादान कारण से कार्य नहीं होता।

जिनवाणी, जिनवाणी के उपदेष्टा गुरु, मन्दिर, प्रतिमा, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम का हटना, मनुष्य भव, वज्र-वृषभ नाराच संहनन, व्यवहार सम्यक्त्व, व्यवहार ज्ञान, व्यवहार चारित्र, धर्म-ध्यान आदि 10-5 ही नहीं किन्तु असंख्य अन्तरंग, बहिरंग निमित्त कारणों के मिलने पर ही मुक्ति मिला करती है। उनमें से किसी भी निमित्त कारण की कमी होने पर त्रिकाल में भी मुक्ति नहीं मिल सकती। अब तक जो अनन्तानन्त जीव संसारी बने हुए हैं तथा अनन्तानन्त अभव्य, दूरातिदूर भव्य प्राणी अनन्त काल तक संसारी बने रहेंगे, उस सब संसार-भ्रमण में या मुक्ति न मिलने में ऊपर लिखे निमित्त कारणों का न मिलना ही मुख्य बाधक है।

समयसार ग्रन्थ में आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, जीवन, मरण आदि परिणमन के मोहनीय, ज्ञानावरण, आयु कर्म आदि द्रव्यकर्म निमित्त कारण बतलाये हैं। नियमसार में सम्यक्त्व के उत्पन्न होने के लिये दर्शनमोहनीय का क्षय, जिनवाणी आदि निमित्त कारण बतलाये हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा पौद्गलिक शरीर तथा उसकी इन्द्रियों के निमित्त से चलता फिरता, देखता, सुनता, सूँघता, रस आस्वाद करता, लिखता, पढ़ता, बोलता है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन काल द्रव्य के निमित्त से होता है। धर्मद्रव्य का निमित्त न मिलने से मुक्त आत्मा अलोकाकाश में नहीं जाने पाता।

राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में निमित्त कारणों की सार्थकता का समर्थन प्रचुर मिलता है। उसे विस्तार भय से यहाँ नहीं दे रहे।

स्वपर-प्रत्यय पर्याय उपादान तथा निमित्त कारणों द्वारा सम्पन्न होती

है। द्रव्यों का परिणमन काल द्रव्य की नैमित्तक सहायता से होता है, ऐसा विधान श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय की 'कालो परिणाम भवो' आदि 100 वीं गाथा में, श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इसकी टीका में (जीवपुद्गलानां, परिणामस्तु बहिरंगनिमित्त-भूत-द्रव्यकाल-सद्भावे सति संभूतत्त्वात्) किया है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि अ. 5 सूत्र 22 में समस्त शुद्ध अशुद्ध द्रव्यों के परिणमन में (धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित: काल:) काल द्रव्य को अनिवार्य निमित्त कारण बतलाया है।

व्यवहार चारित्र

व्यवहार चारित्र को त्याज्य मानकर मुक्ति प्राप्त करना तो, ऐसा है जैसे बिना बीज बोये वृक्ष उत्पन्न होना, बिना बचपन के यौवन अवस्था आने का स्वप्न देखना। आज तक कोई भी मुक्तिगामी ऐसा नहीं हुआ जो व्यवहार चारित्र के बिना आचरण किये निश्चय चारित्र-धारी बना हो और मुक्ति को प्राप्ति कर सका हो। मुक्ति-मार्ग का प्रारम्भ, सराग-सम्यक्त्व, सराग-चारित्र यानी-व्यवहार-सम्यक्त्व, व्यवहार-चारित्र से ही हुआ करता है।

इस कारण कहानपंथ का यह सिद्धान्त मूलत: गलत है कि ''व्यवहार चारित्र त्याज्य है''।

आज व्यवहार चारित्र के अभाव में मनुष्यों का पतन हो रहा है, वह अपने दुराचार से चोर, अभक्ष्य-भक्षक, व्यभिचारी, शराबी, बेईमान, लुच्चा, गुण्डा, बदमाश बनते जा रहे हैं। जिस तरह पुराने युग में (भूत-काल में) व्यवहार चारित्र ने मनुष्य को सद्गुणी, स्व-परहितकारी, धर्मात्मा, सज्जन बनाया, वैसे ही आज भी और अनन्त भविष्य काल तक भी व्यवहार-चारित्र ही मनुष्य का उद्धार करेगा।

व्यवहार चारित्र के बिना शुद्ध आत्मा की बात करना घुने हुए चने के समान 'थोथा चना बाजे घना' लोकोक्ति के अनुसार नि:सार, निरर्थक है।

व्यवहार नय

संसारी जीव का प्रत्येक कार्य, वह चाहे लौकिक हो या मौक्षिक; व्यवहारनय को सत्य मानकर ही करना पड़ता है।

श्री कहान भाई का प्रवचन, लिखना, पढ़ना, देवदर्शन, भक्ति, उपासना, खाना, पीना, सोना, बोलना, सुनना, चलना, फिरना सभी कुछ प्रवृत्ति व्यवहार नय-अनुसार है। श्री कहान भाई स्वयं मनुष्य, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, जैन आदि व्यवहारनय-अनुसार हैं। यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है। व्यवहारनय को असत्यार्थ कहने वाला व्यक्ति जरा निश्चयनय से बोलकर, देखकर, सुनकर तो बतलावे।

'मेरी माता बन्ध्या है, मैं गूंगा हूँ' कहने वाले मनुष्य के समान ही व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ कहने वाला मनुष्य है।

जगत के प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक अंश, वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, उत्पाद व्ययात्मक पर्याय रूप हैं। पदार्थ का यह पर्याय है परिणमन व्यवहार नय अनुसार तो है ही। निश्चय नय से तो आत्मा न मुक्त है, न संसारी है, न सर्वज्ञ है, न अल्पज्ञ है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है, न मूर्ख है, न विद्वान, न मनुष्य है, न देव।

जो भी विकल्पात्मक कथन है वह सब व्यवहारनय अनुसार है। निश्चयनय तो गूंगा है। वह कुछ बोल नहीं सकता। समयसार ग्रन्थ भी व्यवहारनय से निश्चय को बतलाता है। निश्चयनय से श्री कहान भाई बोल कर तो दिखावें, शुद्ध आत्मा का कथन तो योजनों और राजुओं दूर की बात रही।

स्वयं केवलज्ञानी व्यवहारनय के अवलम्बन से उपदेश देते हैं, समस्त जिनवाणी निश्चय व्यवहार नय का सन्मान करती है।

जयधवल में लिखा है-

''ववहारमय पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसणहमणियो-गद्दाराणमादीए मंगलं कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ, ततो ववहाराणुसारि सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्ग-हकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।''(पु.1 पृ.8)

अर्थ- गौतम स्वामी ने व्यवहार नय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है। यदि कहा जाय व्यवहार नय असत्य है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः व्यवहार नय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए, ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्वामी ने चौबीस अनुयोगद्वार के आदि में मंगल किया है।

णियणियवणिज्जसच्चा सव्वणया पर वियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलियं वा॥ 119॥

अर्थ- सभी न अपने अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों का निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है, इस प्रकार का विभाव नहीं करते हैं।

तब व्यवहार नय को सर्वथा असत्यार्थ कहना ऐसे ही है, जैसे कोई बतलाता फिरे कि 'मेरे मौनव्रत है।'

निश्चय से केवली भगवान आत्मज्ञ हैं उपचरित असदूभूत व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं। (नियमसार गा.185) यदि व्यवहारनय या व्यवहारनय का विषय झूठ है तो सर्वज्ञ के अभाव का प्रसंग आ जायेगा जो कि कहानपंथ वालों को इष्ट नहीं है।

अतः कहानपंथ सिद्धांत की बात गलत है, कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है। व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय भी निश्चयनय के समान सोलह आने (शत् प्रतिशत) सत्य है।

केवलज्ञान

कहानपंथ की मान्यता है कि 'केवलज्ञान हो जाने पर

केवलज्ञानावरण का क्षय होता है।' कहानपंथ सिद्धान्त की यह मान्यता भी युक्ति और आगम के विरुद्ध है।

संसार का कोई भी कार्य तब होता है जब उस कार्य के प्रतिबन्धक कारण का अभाव होता है। सूर्य का प्रकाश तब होता है, जब उसके प्रकाश की प्रतिबन्धक काली आंधी, भारी बादल पटल, पूर्ण सूर्य ग्रहण आदि प्रतिबन्धक न हो। यदि काली आंधी होती है, तब दिन के दोपहर को भी अन्धकार फैला रहता है, जब काली आंधी हट जाती है, तभी सूर्य का प्रकाश होता है।

कोई बन्दी (कैदी) तभी स्वतन्त्र होता है, जब कि उसकी हथकड़ी बेड़ी और जेल दूर हो जावे। बिना हथकड़ी, बेड़ी कटे और बिना जेल से मुक्ति मिले कोई भी कैदी जेल से मुक्त नहीं हो सकता।

ऐसी ही बात संसार-बन्दीघर (जेलखाने) के बन्दियों (कैदियों) संसारी भवों की भी है। कर्म की हथकड़ी-बेड़ी ने संसारी जीव आत्मा को और उसके प्रत्येक गुण को जकड़ रखा है। केवलज्ञान को केवलज्ञानावरण ने, सम्यक्त्व को दर्शन-मोहनीय ने तथा चारित्र को चारित्र-मोहनीय कर्म ने प्रतिबद्ध कर (रोक) रखा है, जब तक वह कर्म का प्रतिबन्ध दूर नहीं होता तब तक सम्यक्त्व, केवल-ज्ञान और यथाख्यात-चारित्र का उदय न होता है और न हो सकता है।

जैसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने से दर्शन-मोहनीय का क्षय नहीं होता किन्तु अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के द्वारा दर्शन-मोहनीय कर्म की निर्जरा और संवर होने के पश्चात् सम्यक्त्व होता है। जैसा कि श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार की गाथा 53 में सम्यक्त्व के लिए अन्तरंग निमित्त-कारण के रूप में 'अंतर हेदु भणिया, दंसण मोहस्स खय-पहुदी' (दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय आदि सम्यक्त्व के अंतरंग निमित्त-कारण हैं) वाक्य द्वारा दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलायी है। ठीक इसी प्रकार-

श्री उमास्वामि आचार्य ने केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण

निर्देश करते हुए दशवें अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है-

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणन्तरायक्षयाच्च केवलम्॥ 1॥

अर्थ- पहले कर्म के क्षय से और तत्पश्चात् ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है।

यानी-पहले केवलज्ञानावरण का क्षय होता है, तब केवलज्ञान होता है। ऐसा नहीं है कि पहले केवल-ज्ञान हो जाये उसके पीछे केवलज्ञानावरण का क्षय होवे।

इसी बात का श्री कुन्दकुन्द आचार्य अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ समयसार की 'सो सव्वणाणदरसी' आदि 160 वीं गाथा द्वारा संकेत करते हैं। एवं श्री पूज्यपाद, अकलंक देव, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि सभी ग्रन्थकार इसका समर्थन करते हैं।

अन्तिम-निवेदन

इस समय केवल-ज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतकेवली तथा अन्य किसी विशेष ज्ञान-ऋद्धि-धारक ज्ञानी का सद्भाव नहीं है, जिसके समक्ष जाकर किसी बात का निर्णय किया जा सके। इस समय तो हमारे सामने आर्ष ग्रन्थों के रूप में जिनवाणी ही उपलब्ध है। अत: हमको अपनी श्रद्धा, ज्ञान और आचार जिनवाणी के अनुसार बनाना चाहिए।

जिनवाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप में निबद्ध की गई है। जिनवाणी के श्रद्धालु को चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करके ज्ञान -साधना करनी चाहिये, तभी जिनवाणी का रहस्य प्राप्त किया जा सकता है।

श्री कहान भाई ने जो अपने जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है, उस आध्यात्मिक परिवर्तन को उन्हें चारों अनुयोगों के ग्रन्थों के मार्मिक स्वाध्याय द्वारा सफल करना चाहिये। द्रव्यानुयोग का रहस्य करणानुयोग का ज्ञान प्राप्त किये बिना प्राप्त नहीं होता। श्री कहान भाई ने जो अपने प्रवचन और ग्रन्थों के निर्माण में मोटी-मोटी सैद्धान्तिक गलतियां की हैं, उसका मूल कारण

यह प्रतीत होता है कि उन्होंने गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया।

इसी कारण वे शुद्ध आत्म-तत्त्व का निरूपण तो करते हैं, किन्तु यह नहीं बतलाते कि आत्मा शुद्ध होता किस तरह है, कैसे परिणाम आत्मा को कितना शुद्ध करते हैं, बहिरात्मा से अन्तरात्मा कैसे बनता है और अन्तरात्मा से परमात्मा कैसे हुआ करता है; सम्यक्त्व से आत्मा की कितनी शुद्धि होती है, और चारित्र से कितनी होती है, कर्मों का संवर और अविपाक-निर्जरा किस गुण-स्थान से आरम्भ होती है और किस किस गुण-स्थान में वह संवर, निर्जरा की मात्रा कितनी-कितनी बढ़ती जाती है, संवर और निर्जरा की हानि वृद्धि का कारण क्या है कर्मों का आस्रव, बन्ध, सत्व, उदय किस-किस गुण-स्थान में कितना होता है?

इन बातों को बिना अच्छी तरह जाने समझे और बिना बतलाये आत्मा शुद्ध न तो किया जा सकता है और न कराया जा सकता है।

जैसे अपने मैले कपड़े के विषय में यों कहें कि "**हमारा वस्त्र तो निर्मल स्वच्छ है, उसमें रंच-मात्र भी मैल नहीं है। हमें तो उसकी निर्मल स्वच्छता दिखाई दे रही है। वस्त्र का परिणमन वस्त्र में है, मैल का परिणमन मैल में है। पर-पदार्थ मैल हमारे वस्त्र की स्वच्छता को नहीं बिगाड़ सकता।**" इत्यादि बातों के कहने सुनने से वस्त्र साफ नहीं होता। उसके लिये तो जल और साबुन द्वारा साफ करने का परिश्रम करना पड़ता है।

इसी तरह आत्मा का कर्म मल, केवल आत्मा को शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध समझ लेने मात्र से या मधु वाणी में कह देने मात्र से दूर नहीं हो जाता, उसके लिये यथाविधि कुछ तप त्याग संयम का श्रम भी करना पड़ता है, विषय-भोगों का सम्पर्क छोड़ना पड़ता है, मन वचन शरीर की प्रवृत्ति बदलनी पड़ती है, आत्म-ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। जैसे कि सम्यग्दृष्टि, महान् ज्ञानी तीर्थंकरों ने किया। केवल चर्चा करने से कुछ नहीं बनता। प्रथमानुयोग का स्वाध्याय किये बिना आत्म-शोधन की क्रियात्मक (अमली प्रैक्टीकल) प्रक्रिया नहीं मालूम हो सकती।

ज्ञान का संचय

साँस के लिए स्वच्छ वायु लेने के लिये तथा दूषित वायु अपने घर में से या कमरे में से बाहर निकालने के लिये कमरे की खिड़कियों को तथा प्रकाशदानों (रोशनदानों) को खुला रखना चाहिये। जो मनुष्य कमरे या मकान की खिड़कियों तथा प्रकाशदानों (रोशनदानों) को बंद रखते हैं, वे कभी स्वस्थ नहीं रह सकते।

एक इसी तरह बुद्धिमान पुरुष को ज्ञान के कण संचित करने के लिये मस्तिष्क (दिमाग) की खिड़कियाँ भी खुली रखनी चाहिए जिससे भंडार में वृद्धि होती रहे। जो मनुष्य अपने दिमाग की खिड़कियां बंद कर लेते हैं वे अपने ज्ञान को परिष्कृत नहीं कर सकते।

कहानपंथ के नेता केवल द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय करते हैं वे अपने मस्तिष्क की खिड़कियां प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग के बन्द किये रहते हैं, इसी कारण प्रतीत होता है कि उनका आध्यात्मिक-ज्ञान अधूरा यानी एकान्त-पक्षी बन गया है। निश्चय नय के होकर भी वे निश्चय नय को भी आलाप-पद्धति आदि ग्रन्थों के स्वाध्याय किये बिना अभी तक ठीक नहीं समझ पाये, गुण-स्थानों को नहीं जान पाये एवं निश्चय और व्यवहार धर्म या रत्नत्रय को नहीं जान पाये, जैसा कि उनके द्वारा निर्मित एवं प्रकाशित ग्रन्थों से प्रगट होता है छहढाला, द्रव्यसंग्रह- जैसे ग्रन्थों की कहानपंथ टीका इसका स्पष्ट उदाहरण है। मूलग्रन्थ कुछ कहता है तो उसकी कहानपंथ टीका कुछ कहती है।

समयसार की श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत तथा श्री जयसेन आचार्य टीका कुछ कहती है और कहानपंथ से प्रकाशित समयसार प्रवचन कुछ कहता है।

सैद्धान्तिक विवाद इसी एकाङ्गी (केवल द्रव्यानुयोग के) स्वाध्याय फल है। यदि समस्त अनुयोगों का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन हो तो एक ही आम्नाय के व्यक्तियों में परस्पर सैद्धान्तिक विवाद हो नहीं सकता।

अनुयायी वर्ग

कहानपंथ के अनुयायी वर्ग ने अपना सुन्दर नाम 'मुमुक्षु' रक्खा अवश्य है परन्तु मुक्त होने के लिये जो चारों अनुयोगों का ज्ञान-अर्जन करने के लिये प्रयास होना चाहिए, तो उन्होंने भी नहीं किया। 'द्रव्यानुयोग के सिवाय अन्य अनुयोगों के ज्ञानकण कहीं उनके हृदय में न घुस आवें'' इस आशंका से उन्होंने अन्य तीन अनुयोगों के लिये अपने हृदय के बज्र कपाट बन्द कर लिये हैं। वे द्रव्यानुयोग के सिवाय अन्य किसी अनुयोग का स्वाध्याय करते ही नहीं।

उनसे यदि गुणस्थानों के विषय में, नयों के विषय में या कर्मों के बन्ध, उदय, सत्व, संक्रमण, उदीरणा, संवर, निर्जरा आदि के विषय में पूछो तो लगभग 99 प्रतिशत मुमुक्षु सज्जनों का यही एक उत्तर होता है कि '**हमने तो आत्मा को समझना है, अन्य बातों से हमें क्या प्रयोजन।**'

ऐसी दशा में वे क्या तो समयसार समझेंगे और क्या आत्मा को समझेंगे। जिस व्यक्ति ने अपने वस्त्र का मैल, मैल का कारण तथा मैल छूटने की विधि और उसका प्रयोग न समझा, भला वह वस्त्र को क्या साफ कर सकेगा।

वे अपने स्वाध्याय में जब तक सिवाय गलत कहानपंथ साहित्य के अन्य आर्ष ग्रन्थों को नहीं लेंगे तब तक वे एकान्तवादी धारणा से छूट कर अनेकान्तवाद में कैसे आ सकते हैं?

इन्दौर आदि विभिन्न स्थानों पर समाज में परस्पर तनाव उत्पन्न होने का मूल कारण केवल यह है कि मुमुक्षु भाई कहानपंथ साहित्य के साथ अन्य कोई भी आर्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ना चाहते। जबकि जनता सभी अनुयोगों का स्वाध्याय चाहती है।

कहानपंथ ग्रन्थों में दिगम्बर मुनियों की अश्रव्य (न सुनने योग्य) निन्दा भी अनेक स्थलों पर विभिन्न रूप से लिखी हुई है। (उसका उल्लेख करके हम जनता की भावना को भड़काना उचित नहीं समझते।) यह बात भी सामाजिक विवाद की कारण बन जाती है।

अनुचित प्रणाली

चारित्र मोहनीय कर्म का जब तक उदय रहता है तब तक प्रत्येक जीव के अनेक प्रकार की इच्छाएँ हुआ करती हैं। उन इच्छाओं में से एक इच्छा यशो-लिप्सा यानी- यश कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा भी है। यश प्राप्त करने की तीव्र इच्छा धार्मिक या आध्यात्मिक महानुभावों के भी होती है। क्योंकि वे भी तो रागी मोही होते हैं। इसलिये अध्यात्म-प्रेमी व्यक्ति भी अपने यश-कीर्ति के प्रसार के लिये कृत, कारित, अनुमोदना के रूप में विविध कार्य रुचि के साथ करते हैं। इस यशो-लिप्सा पर विजय प्राप्त करने वाला कोई विरला ही उच्चकोटि का महात्मा होता है।

परन्तु तत्त्वेत्ता, अध्यात्म-प्रेमी धर्मात्मा को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह अपना यश फैलाने की इच्छा से कोई ऐसा कार्य न करे और न अपने अनुयायियों द्वारा अपने लिये होने दे जिससे मिथ्या प्रवृत्ति चल पड़े।

कहानपंथ में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ जड़ जमाती जा रही हैं जिन्हें कहानपंथ के नेताओं को कड़ाई से साथ रोक देना चाहिये।

असत्य वार्ता

राजकोट के श्री ब्र. चुन्नीलाल जी देसाई ने अपनी पुस्तक (कहानपंथ का कलंक) में, श्री पं. सरनाराम जी ने अपने लेख में तथा श्री कहान भजन मजरी पुस्तक में चंपकलाल मोहन डगली ने यह अभिप्राय लिखा है कि-

''श्री कहान भाई पूर्व भव में विदेश क्षेत्र में एक राजा राजकुमार थे। उन्होंने अपनी पत्नी के साथ श्री 1008 सीमन्धर तीर्थंकर का दर्शन समवशरण में जाकर उस समय किया था जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य वहाँ गये थे।''

कहानपंथ के नेताओं तथा श्री कहान भाई की ओर से इस बात का निराकरण नहीं किया गया, इससे प्रतीत होता है कि 'मौनं सम्मतिलक्षणम्'

नीति के अनुसार आप इस बात से सहमत हैं। किसी के पूर्वभव की बात कोई अन्य व्यक्ति कह भी नहीं सकता, अत: संभव है कि, यह बात श्री कहान भाई ने ही कही होगी। जैसा कि पं. सरनारामजी ने लिखा भी है।

परन्तु यह बात असंगत है। विदेह क्षेत्र में भाग्यशाली मनुष्यों की एक कोटि पूर्व की (अरबों वर्ष की) आयु होती है। तदनुसार श्री कुन्दकुन्द आचार्य के समय अनुसार युवक राजकुमार दो हजार वर्ष पीछे ही विदेह क्षेत्र से चय कर श्री कहान भाई के रूप में कैसे उत्पन्न हो सकता है? अकालमृत्यु की घटना से ही ऐसा होना सम्भव है।

विदेह क्षेत्र का वह राजकुमार सम्यग्दृष्टि न होगा, अन्यथा वह मनुष्य आयु का बन्ध करके श्री कहान भाई के रूप में कैसे उत्पन्न होता। सम्यक्त्वी मनुष्य के तो देव आयु का बन्ध होता है।

विदेह क्षेत्र का भाग्यशाली मनुष्य यदि मनुष्य भी होता, तो विदेह में तो जन्म लेता जिससे उसी भव से उसको मुक्ति प्राप्त करने के साधन सुलभ होते तथा साक्षात् तीर्थंकर के दर्शन करने का अवसर मिलता रहता।

इत्यादि, सिद्धान्त की छाया में यह बात गलत सिद्ध होती है।

कलिकाल में उत्पन्न हुआ भरत क्षेत्र का कोई व्यक्ति विदेह क्षेत्र में जन्म ले, यह तो उसके अभ्युदय (उन्नति) और नि:श्रेयस (कल्याण) का चिन्ह है किन्तु विदेह क्षेत्र का राजकुमार कलिकाल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हो, यह उन्नति और कल्याण का चिन्ह नहीं। श्री कहान भाई को जनता की यह गलत धारणा दूर कर देनी चाहिये।

चित्र की पूजा

बम्बई के मन्दिर में श्री कहान भाई का एक बड़ा चित्र एक अलग वेदी में विराजमान है। मन्दिर में दर्शन करने के लिए आने वाले भक्त स्त्री-पुरुष उस चित्र को अर्हन्त भगवान के समान साष्टांग नमस्कार करते हैं, उस चित्र की आरती उतारते हैं। जब श्री कहान भाई व्रती भी नहीं हैं, अव्रती हैं, तब उनके चित्र की इस तरह पूजा, भक्ति की जानी बहुत अनुचित है। श्री कहान भाई को यह गलत पद्धति तत्काल रोक देनी चाहिये।

मानस्तम्भ में मूर्ति

समवशरण की अनुकृति रूप में मन्दिर का निर्माण किया जाता है और समवशरण बहिर्भाग में बने हुए मानस्तम्भ में अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान की जाती है। परन्तु श्री कहान भाई के भक्त मानस्तम्भ में श्री कहान भाई की मूर्ति भी बना देते हैं। यदि कहान भाई महाव्रती मुनि होते तब तो उनकी मूर्ति दिगम्बर आम्नाय का बोध कराने वाली होती। परन्तु वे वस्त्रधारक अव्रती के रूप में हैं, तो उनकी वस्त्रधारिणी मूर्ति से श्री कुन्दकुन्द आचार्य के निर्ग्रंथ जिनेन्द्र रूप का घात होता है। यह बात इस समय साधारण प्रतीत होती है परन्तु कालान्तर में बहुत हानि-प्रद सिद्ध होगी। श्री कहान भाई तो सदा न बने रहेंगे (हमारी तो भावना है कि वे चिरायु हों) परन्तु उनके अभाव में मानस्तम्भ में उत्कीर्ण उनकी प्रतिमा उनके दिगम्बरीय मान्यता या चिन्ह का बोध न करा सकेगी। इस पर कहान भाई गम्भीरता से विचार करें।

पागले

श्री कहान भाई एक ओर तो शुद्ध सम्यग्दर्शन को ही उपादेय बताकर व्यवहार रत्नत्रय को भी त्याज्य बताते हैं। देवमूढ़ता, गुरु मूढ़ता और लोक मूढ़ता को बड़ी दृढ़ता से निषेध करते हैं, किन्तु उधर उनके आश्रय से मिथ्यात्व का प्रचार भी हो रहा है, यह एक विचित्र बात है। यह बात अनेक बार प्रकाशित हुई है कि श्री कहान भाई के चरणों के तलवों पर केसर लगाकर उनके भक्त जन वस्त्रों पर उन चरणों-चिन्हों की छाप (पागले) ले लेते हैं। उन पागलों को वे अपने घरों में इस मान्यता से ऊँचा टाँग देते हैं कि इनके निमित्त से लक्ष्मी, स्वास्थ्य, सुख, सुविधा का समागम होगा।

क्या यह प्रथा और मान्यता लोकमूढ़ता अथवा गुरुमूढ़ता की प्रतीक नहीं है? श्री कहान भाई गम्भीरता से विचार करें।

तीर्थङ्कर का अवतार

श्री कहान भाई की 74 वीं वर्षगांठ पर श्री ब्रजलाल फूलचन्द्र भायाणी (सौराष्ट्र) द्वारा प्रकाशित 'कहान भजन मंजरी' (प्रथम पुष्प) पुस्तक

में पृष्ठ 10 तथा पृष्ठ 17 पर श्री कहान भाई को 'तीर्थंकर' बतलाया गया है। पृष्ठ 9 पर श्री कहान भाई को 'केवल ज्ञान का टुकड़ा' लिखा है।

क्या कहानपंथ के नेताओं को तथा स्वयं श्री कहान भाई को अपने लिए प्रयुक्त ये विशेषण उचित प्रतीत होते हैं? गहराई से विचार करें।

ये बातें जनता में मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यात्व) फैलाने वाली है, अतः इनका कड़ाई के साथ निराकरण होना चाहिए।

विद्वानों का कर्त्तव्य

विद्वान् सदा सरस्वती का उपासक रहा है। लोक में सरस्वती का गहन नीर क्षीर का विवेक करने वाले 'हंस' को माना गया है। तदनुसार विद्वानों को सरस्वती माता (जिनवाणी) का हृदय से सम्मान करके उससे विमुख कोई वार्ता न करनी चाहिए। चारों अनुयोगों का रूप धारण करने वाली जिनवाणी 'सर्वाङ्ग सुन्दरी बनी रहे, उसका कोई अंग-भंग न होने पावे', इसका उत्तरदायित्व विद्वानों पर है, उसका निर्वाह प्रत्येक जैन विद्वान को शुद्ध हृदय से करना चाहिये।

''आत्मा के अभ्युदय के लिये चारित्र का आचरण भी अनिवार्य आवश्यक है, निश्चय-व्यवहार-आत्म-परिणति साध्य-साधन रूप है, विचार-धारा अनेकान्तमयी सत्य है, एकान्त-पोषिणी असत्य है, कार्य-सिद्धि उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार के कारणों से हुआ करती है कषायांश बन्ध का कारण है, व्रत तप संयम संवर निर्जरा का कारण है।'' इत्यादि विषय पर विद्वानों को गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवर्तिक आदि ग्रन्थों के आधार से स्पष्ट विवेचन करना चाहिये।

जनता को असत् मार्ग से हटाकर जिनवाणी-सम्मत सत्पथ का प्रदर्शन करना विद्वानों का कर्त्तव्य है।

नीतिकार के विद्वान् को लक्ष्य करके कहा है-

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव कुरुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

यानी- हे हंस! यदि तुम दूध और जल को अलग-अलग करने में आलस्य करोगे तो इस जगत में सत्य का भेदभाव कौन दिखलावेगा?

सद् गुरु

पंच-परमेष्ठी में प्रथम, द्वितीय पद आराध्य देवाधिदेव का है, जिनको अर्हन्त और सिद्ध माना जाता है। शेष तीन परमेष्ठी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) धर्म-गुरु या सद्गुरु माने गये हैं।

प्रत्येक मुमुक्षु (मुक्ति-इच्छुक) के लिये अर्हन्त, सिद्ध का पद प्राप्त करना लक्ष्य होता है और गुरु उस लक्ष्य तक पहुँचाने वाला या पथ-प्रदर्शन करने वाला हुआ करता है। वह मुक्त-आत्माओं के पद-चिह्नों पर स्वयं चलता है, तथा अन्य भव्य प्राणियों को उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतएव उसे '**तरण तारण**' कहते हैं। संसार में रहते हुए भी वह संसार से पृथक् रहता है। वह जनता से अपने लिये कुछ नहीं लेता क्योंकि वह स्वयं नग्न दिगम्बर होता है, परन्तु अपनी प्रवृत्ति और प्रेरणा द्वारा जनता को महान आत्मवैभव प्रदान करता है। सत्श्रद्धा, सत्ज्ञान, सत् आचार की वह चलती फिरती प्रतिमा होता है। संसार, शरीर और विषयभोगों से विरक्त होता है। महान इन्द्रिय-विजेता, कषाय-जयी तथा शान्तिमूर्ति होता है।

ऐसा संसार का आदर्श महात्मा धर्मगुरु या सद्गुरु होता है। जिसके लिये श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते॥

अर्थ- पांचों इन्द्रियों के विषयों की आशा से जो अतीत (रहित) हो, समस्त आरम्भ और अन्तरंग बहिरंग परिग्रह जिसके न हो और न जो किसी तरह का आरम्भ करता हो, जो आत्म-ध्यान तथा ज्ञान आराधन में लीन रहता हो, वह सद्गुरु तपस्वी है और प्रशंसनीय है।

हमारी भावना है कि श्री कहान भाई में ऐसे ही विश्वन्द्य निर्ग्रन्थ सद्गुरु का स्थान प्राप्त करें। जब आपने श्री 108 कुन्दकुन्द आचार्य में सत्श्रद्धा

जाग्रत करके आत्म-अभ्युदय के लिये अपने जीवन में महान् क्रान्ति की है तो आपको श्री कुन्दकुन्द आचार्य के चरण-चिह्नों पर चलकर निर्ग्रन्थ-मुनिचर्या भी करनी चाहिये। मनुष्य-जीवन की यह सबसे बड़ी सफलता है। आप इस मानुषीय परमपद का निर्वाह न कर सकते हों, ऐसी बात नहीं है, हृदय में दृढ़ भावना लाने की केवल आवश्यकता है। अपने शरीर से आत्म-साधना का यह कार्य आत्मतत्त्ववेत्ता को अवश्य लेना चाहिए।

यदि आप ऐसा न कर सकें तो कम से कम प्रतिज्ञापूर्वक सप्तम प्रतिमा का निर्दोष निरतिचार चारित्र यथाविधि स्वीकार करें।

उस दशा में महान गुरु-पद का प्रतीक 'सद्गुरु' विशेषण अपने नाम के साथ न लगावें, न अन्य व्यक्ति के द्वारा लगने दें तथा सद्गुरु के नाम पर अपना जयघोष भी न कराया करें। ऐसा करना, कराना दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण गुरु का अवर्णवाद है। आप अपने भक्तों को ऐसा करने से नहीं रोकते हैं इसका अर्थ तो यह है कि आपको अपनी ऐसी असत् प्रशंसा में रुचि है।

काल लब्धि

चारित्र पालन के लिये काल-लब्धि का यह बहाना करना; कि 'जब हमारे काल-लब्धि आवेगी, तब बिना कुछ प्रयत्न किये ही स्वयं हमारे संयम का आचरण हो जायेगा,' आत्मार्थी सत्पुरुष के लिये अनुचित वार्ता है। इस तरह तो आप अपनी श्रद्धा में भी परिवर्तन न कर सकते थे।

उत्साह और साहस के साथ विवेकी पुरुष को 'शुभस्य शीघ्रम्' नीति अनुसार आचरण करने में देर न करनी चाहिये। काल-लब्धि तो उचित कारण-कलाप की योजना करने पर स्वयं आ जाती है। कायर लोग काल-लब्धि के दास बना करते हैं।

साहसी व्यक्ति काल-लब्धि को दासी बनाते हैं।

आशाय ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

अर्थ- काललब्धि की आशा के जो दास होते हैं। वे समस्त जगत के दास होते हैं और जो आशा को अपनी दासी बना लेते हैं, सारा जगत उनका दास बन जाता है।

मुखपत्ती उतारते समय आपने काललब्धि की प्रतीक्षा नहीं की थी। आत्म-हितार्थी व्यक्ति आत्महित करने के लिये काल-लब्धि का मुखापेक्षी नहीं बनता। आप जब खाने, पीने पहनने ओढ़ने, आने-जाने बोलने-चालने, सोने, घूमने-फिरने आदि लौकिक कार्यों में काल-लब्धि की प्रतीक्षा नहीं करते तो संयम-आचरण में काल-लब्धि की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हैं।

श्री पं. टोडरमल जी ने काल-लब्धि को फटकार अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में बतलाई है, उस पर विचार कीजिये।

शुभ कर्म के उदय से कार्य में सफलता मिलने के लिये अनुकूल सामग्री का मिलना ही काल-लब्धि है। सो आपको वैसी योग्यता प्राप्त है, गृहस्थाश्रम के बन्धन से भी आप अतीत हैं। इस काल-लब्धि का लाभ उठाकर आप महाव्रत धारी सद्गुरु बन सकते हैं।

मुनि का द्रव्य लिङ्ग भावलिङ्ग

युद्ध में विजय प्राप्त करने लिये योद्धा सैनिक के शरीर में बल तथा हृदय में वीरतामय अन्तरंग उत्साह होना तो परम आवश्यक है ही, उसके बिना तो वह अपने शत्रु पर विजय पा ही नहीं सकता। परन्तु इसके साथ ही उसकी बाहरी साधन-सामग्री होना भी अत्यन्त आवश्यक है। वीरता का उद्‌बोधक गणवेश (बर्दी) तथा बर्छी, तलवार, बन्दूक, गोली, बारूद आदि बाहरी सामान सिपाही के पास न हों तो उसका अन्तरङ्ग वीरभाव व्यर्थ हो जाता है, केवल उस अन्तरङ्ग वीरता के कारण ही उसको युद्ध में विजय नहीं मिल सकती।

इसी तरह यदि अन्तरङ्ग में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य भावना हो किन्तु बाहर से सांसारिक परिग्रह का, शारीरिक पोषण का पहनाव उढ़ाव का तथा इन्द्रिय-विषय-भोगों का परित्याग न किया हो तो वह हृदय की वैराग्य

भावना स्थिर नहीं रहती लुप्त हो जाती है जैसे श्मशान भूमि में मनुष्यों का वैराग्य असफल रहता है।

यदि भगवान नेमिनाथ वस्त्र आभूषण आदि उतार कर मुनि दीक्षा ग्रहण न करते, तो कोरी वैराग्य-भावना से उनको आत्म-सिद्धि कदापि न मिलती।

मुनि का द्रव्य-लिंग (नग्न दिगम्बर वेश) धारण किये बिना कभी भाव-लिंग यानी-प्रत्याख्यानवरण कषाय के क्षयोपशम से होने वाला अन्तरंग मुनि चारित्र नहीं होता। द्रव्यलिंग होने पर भावलिंग कदाचित न भी हो, परन्तु भावलिंग तो द्रव्यलिंग के बिना कदापि (कभी भी) नहीं होता।

इसी कारण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सूत्र पाहुड़ की 23 वी गाथा में स्पष्ट कहा है कि-

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणजइवि होई तित्थ्यरो।

अर्थ- वस्त्रादि बहिरंग परिग्रहधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो भी वह आत्मसिद्धि (मुक्ति) प्राप्त नहीं कर सकता।

इस कारण यह खयाल करना मूलत: गलत है कि जब हमारे संयम घाती कषाय का क्षयोपशम होगा तब बाहरी परिग्रह का त्याग अपने आप हो जायेगा। क्योंकि एक तो बहिरंग परिग्रह के रहते हुए अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता नहीं, बहिरंग परिग्रह के त्याग होने पर ही अंतरंग परिग्रह का त्याग होता है। जैसे चावल के ऊपर से धान का छिलका हट जाने पर ही चावल के भीतर की लालिमा दूर होती है।

दूसरे-कोई भी ऐसा कर्म का क्षयोपशम, क्षय आदि नहीं है कि शरीर पर पहनी हुई टोपी, बनियान, कमीज, कोट, लंगोटी, धोती को उतार कर फेंक दे। यह क्रिया तो विरक्त मनुष्य को स्वयं करनी पड़ती है। तभी अन्तरंग में प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होना सम्भव है।

गुरु-विनय वार्ता

श्री कहान भाई को निर्ग्रन्थ-मुनि-मुद्रा का विनय आदर सत्कार करना चाहिए। सम्यक् दृष्टि जीव निर्ग्रन्थ गुरु का विनयी भक्त होता है। उसके परोक्षज्ञान-गम्य मुनि का द्रव्यलिंग ही होता है, भावलिंग छद्मस्थ के ज्ञान-गम्य नहीं है। अत: महाव्रती दिगम्बर मुद्रा देख कर श्री कहान भाई व उनके साथियों को मनसा वाचा कर्मणा निर्ग्रन्थ साधु की भक्ति उपासना करना उचित है।

श्री सेठ बच्छराज जी गंगवाल के कथन-अनुसार पहले कहानपंथ वालों को अष्ट द्रव्य से पूजन करने का विधि विधान नहीं आता था श्री सेठ लच्छराज जी आदि ने विधि अनुसार कहानपंथ वालों को पूजा प्रक्षाल करना बतलाया। तब वे ठीक तरह से पूजा करने लगे। इस तरह कहानपंथ वालों को दिगम्बर साधु की गुरु-भक्ति करने की विधि भी मालूम नहीं है। मुनियों को आहार कराने की विधि भी कहानपंथ के भाइयों को सीखना उचित आवश्यक है। जिससे कहानपंथ में मुनि का विहार (व्यवस्था) होना संभव हो सके और कहानपंथ वालों को गुरु-भक्ति करने का सौभाग्य प्राप्त हो। गुरु-भक्त होना सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।

सुधारणीय त्रुटि

श्री ब्र. चुन्नीलाल जी देसाई राजकोट द्वारा सोनगढ़ का कलंक नामक पुस्तक में पृष्ठ ९९ पर लिखे अनुसार तथा अन्य विश्वस्त व्यक्तियों के कहे अनुसार श्री कहानजी स्वामी की प्रेरणा से सोनगढ़ राजकोट आदि में बने हुए मन्दिरों में शूद्रजातीय व्यक्ति पूजन प्रक्षाल करते हैं। यह बात बहुत अनुचित है, इसका सुधार होना चाहिये।

प्रकाशन प्रेरणा स्रोत

परम पूज्य आचार्यश्री १०८ आर्जवसागर जी महाराज का जीवन परिचय

पूर्व नाम	-	पारसचंद जैन
पिता जी	-	श्री शिखरचंद जैन
माता जी	-	श्रीमती मायाबाई जैन
जन्मतिथि	-	११.९.१९६७, भाद्र शु. अष्टमी
जन्म स्थल	-	फुटेरा कलाँ, जिला- दमोह
बचपन बीता	-	पथरिया, जिला- दमोह (म.प्र.) में
शिक्षण	-	बी.ए. (प्रथम वर्ष) डिग्री कॉलेज, दमोह (म.प्र.)
ब्रह्मचर्य व्रत	-	१९.१२.१९८४, अतिशय क्षेत्र, पनागर (म.प्र.)
सातवीं प्रतिमा	-	१९८५, सिद्धक्षेत्र, अहारजी
क्षुल्लक दीक्षा	-	८.११.८५, सिद्धक्षेत्र, अहारजी
ऐलक दीक्षा	-	१०.७.१९८७, अतिशय क्षेत्र, थूवोनजी
मुनि दीक्षा	-	३१.३.१९८८, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, महावीर जयन्ती सन् १९८८
दीक्षा गुरु	-	आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज
आचार्यपद	-	२५.०१.२०१५ (माघ शुक्ल षष्ठी) को (समाधि पूर्व आचार्यश्री सीमंधरसागर जी द्वारा इंदौर में)
कृतियाँ व रचनाएँ	-	धर्म-भावना शतक, जैनागम-संस्कार, तीर्थोदय-काव्य, परमार्थ-साधना, बचपन का संस्कार, सम्यक्-ध्यान शतक, आर्जव-वाणी, पर्यूषण-पीयूष, आर्जव-कविताएँ, जिनवर-स्तुति, साम्य-भावना एवं आगम-अनुयोग, जैन शासान का हृदय, लोक कल्याण (षोडसकारण) विधान, सदाचार सूक्ति काव्य।
पद्यानुवाद	-	गोमटेशथुदि, जिनागम-संग्रह (वारसाणुवेक्खा, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, द्रव्य-संग्रह), तत्त्वसार एवं प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका।

प्रकाशन प्रेरणा स्रोत

हमारी परंपरा के प्रथमाचार्य

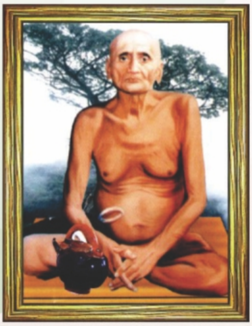

चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री
108 शांतिसागरजी महाराज

हमारे दीक्षा गुरु

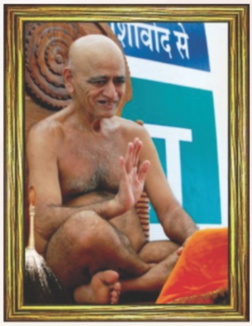

संत शिरोमणी आचार्यश्री
108 विद्यासागरजी महाराज

आचार्य पद प्रदाता

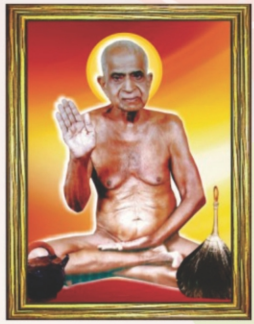

आचार्यश्री 108
सीमंधरसागरजी महाराज

आचार्यश्री 108 आर्जवसागरजी महाराज

जन्म : 11.09.1967, मुनिदीक्षा : 31.03.1988
आचार्य पद : 25.01.2015